नागार्जुन का रचना संसार

विजय बहादुर सिंह

संभावना प्रकाशन, हापुड़-245101

अग्रज तुल्य
डॉ० कृष्ण बिहारी मिश्र
और
डॉ० चन्द्रभूषण तिवारी के लिए

क्रम

दो पत्र

पूज्य बाबा,

प्रणाम।

किताब लगभग पूरी हो चली है फिर भी कुछ बातें कहने को रह गई हैं। जब छपकर सामने आ जायगी ऐसा तब भी लगता रहेगा। जीवनी को लेकर ढेर सारी जिज्ञासाएँ अब भी मन मे हैं। मुझे यह भी मालूम है कि आप का सारा साहित्य शोभाकात जी समेटने मे अभी लगे ही हुए हैं। इस नाते अपने काम के अधूरेपन को समझ रहा हूँ। तब भी जिद किए बैठा हूँ कि इस अधूरे को ही सामने रखकर आगे की कोशिश जारी रखूँ। कौन आलोचक अब तक अपने लेखक को पूरा-पूरा जान सका है। हम सब अपनी-अपनी समझदारियां भर ही पेश करते रहे हैं। यही हमारे लिए सहज सभव भी है।

आपको लेकर पार्टी और बाहर के दोस्तो मे काफी वकझक होती रहती है। आपकी नीयत पर जो शक नही करते, वे भी आपके कई निर्णयो को लेकर पशोपेश मे पड जाते हैं। मैं यही अपने को मुक्त रख सका हूँ और मुझे लगा है कि पार्टी या उसकी सीमाएँ किसी भी रचनाकार के लिए बेहद रचना विरोधी होती हैं। लेखक सिर्फ रटे हुए बाहरी शब्दो का इस्तेमाल नही करता, उसके सामने लोक के सर्वथा तीखे अनुभव और प्रतीतियां रहा करती हैं, जिस प्रवाह मे मोटे तौर पर सारी औपचारिक धारणाएं झड जाती हैं। गोर्की हो या प्रेमचद, रामविलास शर्मा हो या नागार्जुन, सबका ध्यान उस अतिक्रामक मानवतत्व पर होता है जिसम अनेकानेक मानव भविष्य छिपे रहते हैं। यही हर लेखक स्वयजीवी होता है। आप भी हैं, मैं यही समझ पाया हूँ।

आप जैस लेखको को पढते हुए बार-बार यह महसूस होता है कि राष्ट्र प्रेम और राष्ट्रीय समस्याएँ ही आपके लेखन को प्रेरणा देती रही हैं। अगर आपके सवेदनसूत्र बाढ, अकाल, महामारी, राजनीतिक पतन, सामाजिक भ्रष्टाचार, स्वार्थ प्रियता, गरीबी, भलमनसाहत, गँवई नेह छोह से परस्पर विरोधी मुद्राओं मे जुडे न होते तो शायद ही यह लेखन इतना जीवत, इतना प्रामाणिक, इतना आलोचना-मुखर और स्वप्नगर्भी होता। आप चाहते तो मजे से मोटे-मोटे उपन्यास लिखते और उस लिक्खाड पुरुषार्थ का सुख लूटते। या किसी सरकारी, गैर-सरकारी पद पर बैठे बैठे सुविधा की रस-मलाई उडाते। पर विद्याव्यसनी अध्यापक, तत्त्व शोधी बौद्ध भिक्षु यात्री-गृहस्थ, आंदोलनी कवि और कथाकार हुए, वह जो समाज की रूढियो के खिलाफ जन जागरण कर रहा हो। भला गँवई हिन्दुस्तानी जनता अपने मसीहाओ को अब तक कहाँ समझ सकी है, जो आप को समझती ? शहरी आबादी तो मकान दूकान और मोटरकार की दौड मे यह भी भुला चुकी है कि धनिया मे घोडे की लीद मिला देने से समाज के स्वास्थ्य पर कोई असर भी पडेगा। और आप लेखक लोग हैं जिन्हे हर क्षण राष्ट्रीय स्वास्थ्य की चिन्ता परेशान कर

रही है। मुक्तिबोध के शब्दों मे 'फिक्र से फिक्र लगी' हुई है। जो व्यवहार प्रेमचद, निराला, राहुल को उनके समाज से प्राप्त हुआ, वही आपको भी मिल रहा है। अगले प्रेमचद, निराला और नागार्जुन के लिए भी लगभग यही तय है। सरकारें जिस तरह के पालतू लेखन की तलाश में हैं वैसा तो आप लोग कर नही सकते। तब जो यह आत्म संघर्ष की नियति है, उसे ही जिन्दगी का रस-रक्त बनाये चलना, चलता ही रहेगा। यहाँ न प्रकाशक कुछ करेगा न पाठक और न संस्कृति प्रेमी भद्र समाज ही। फिर करेंगे त्रिलोचन और शमशेर। मरणोपरात वीरता पुरस्कार शैली मे किसी गाँव टोले मे उनकी जयती मना ली जायगी। तब भी लोक संघर्ष को आत्म संघर्ष, लोक सुख को स्वात-सुख मानकर जिन्दगी जीने की विलक्षणता बनी ही रहेगी। सचमुच देश प्रेम कोई बच्चो या अनाडियो का खेल नही है। वह अब भी शहादतें माँगता है। लेखक से भी। पाठक से भी। आप लोगो को इसी मे सुख मिलता है, तो इस स्वतंत्र वरण के लिए हजार-हजार आभार, लाख लाख शुक्रिया।

आप न केवल जनता के पक्ष मे लिखते हैं बल्कि पाठक रूप मे भी वह हमेशा आपके सामने रहती है। आजादी या उद्धार जब बिचौलियों के द्वारा सम्पन्न होते हैं, चीजें आसमान से गिर खजूर पर लटक जाती हैं। धरती-पुत्रों तक पहुँचने का वायदा वायदा ही रह जाता है। सच्चा स्वातंत्र्य तो तब आयेगा जब आम हिन्दुस्तानी अपने बल बूते पर लोकतंत्र की इमारत का ढांचा खडा करेगा। विद्रोह या क्रान्ति जब तक चन्द पढे-लिखे बुद्धि व्यापारियो के तमाशे बने रहेंगे—सामाजिक परिवर्तन का आना टेढी खीर है। हमारा वामपंथ भी राजनीतिक कर्मकाण्डों, वर्ग भेदो और वर्णक्रमो का शिकार हो चला है। एकाध प्रदेशो की बात छोड दी जाय तो तीस बत्तीस साल होने को आए मेरे गाँव के अलगू गडरिया और घिसई तेली ने सुना ही नही कि कोई डांगे, कोई नाम्बुदरीपाद और कोई ज्योतिबसु और चारु मजुमदार भी हुए है। हां लोहिया, कृपलानी तक वह जरूर सुन सका है। आम जनता की खुशहाली की बात करने वाले वामपंथ की अभी यहाँ कोई पहुँच ही नही है। लगता है वहाँ तक पहुँचते-पहुँचते चुनावो का चक्कर खत्म हो जायगा और हम आराम से किसी बद घर मे बैठे बैठे अपनी रोटियाँ तोड सकेंगे—अगर वे मिलती गईं तो। हाँ अगर वरुण के बेटे, बाबा बटेसरनाथ, बलचनमा, पारो रतिनाथ की चाची, नुक्कड कविताएँ गाँवो तक पहुँच सकें तो शायद वह सामाजिक प्रतिरोध जन्म ले सके, जो पिछले दिनो से चद लेखको की किताबो के पन्नो की धरोहर बनकर रह गया है। मेरा पाठकीय प्रयास इसी मंशा का एक सगुण उपक्रम है। मैंने जान-बूझ कर अपनी बात को गैर पण्डिताऊ ढग से कहने की कोशिश की है। आमफहम भाषा म आलोचना के नगे हो जाने के खतरे भरपूर हैं। और आज-कल रचनात्मक आलोचना सर्जनात्मक लेखन से भी आगे निकल चुकी है। मैं उसे समान धर्मा नहीं समानान्तरगामी बनाने का जुगत भिडा रहा हूँ। महारथियो को यह अन्दाज खटकेगा जरूर पर मुझे उसकी चिन्ता कहाँ है?

और आप ही कब किसकी परवाह करते हैं।

29 12-79 विजयबहादुर सिंह
विदिशा (म० प्र०)

विजय बाबू,

आपके कई पत्र इधर भी मिले हैं। नवम्बर और दिसम्बर मे लगभग बीस रोज हमारा-आपका विदिशा मे साथ रहा। आप की राय के अनुसार, अपने से सबंधित कुछ खास मुद्दो पर मै प्रकाश डालूँ तो वह प्रस्तुत पुस्तक मे जुड जाएगा'''। बहुत अच्छी बात है।

अपने बारे मे मित्रो एव अमित्रो के मन्तव्य सभी को सुनने पडते हैं। आपको भी अपने बारे मे परस्पर विरोधी मन्तव्य सुनाई पडते होगे। अपने बारे मे प्रतिकूल, अशोभन झूठे, और हानिकारक मन्तव्य सुनकर अविचल रह जाना पाषाण धर्मिता का पर्याय होगा। मुझे खुशी है कि अब तक मैं पाषाण नही बन पाया।

अपने बारे म, सक्षेप मे ही कहना चाहूँगा। सभवत चालीस-पचास पक्तियो से अधिक नही लिख पाऊँगा। लिखने को तो अपने बारे मे सौ-पचास पृष्ठ कोई भी रचनाकार लिख-लिखा लेगा। लेकिन मैं जानबूझ कर सक्षेप का सहारा ले रहा हूँ।

मुझे यह सब व्यर्थ लगने लगा है। किसने, कब, कहाँ, मेरे प्रसग मे क्या कहा ? मेरे पक्ष या विपक्ष मे अमुक शोधकर्ता ने अपनी क्या राय जाहिर की है या किस परिचर्चा गोष्ठी मे कौन मेरा परिहास कर रहा था ?'''मेरे हितैषियो ने समय-समय पर मुझे इस बात की सूचना देने की कोशिश की है। वामपथी एव वामगधी बधुओ के परामर्श, चेतावनियाँ, शीतोष्ण उपदेश'''यह सब मेरे इन कानो तक पहुँचते रहे हैं ''परतु सर्वाधिक परवाह जिस तत्त्व की मैं करता हूँ वह कोई और तत्त्व है। जिस शक्ति से मैं ऊर्जा हासिल करता हूँ, वह कोई और शक्ति है। आपको यह बात शायद बातचीत के सिलसिले मे बतला चुका हूँ कि मुझे सघर्षशील जनता का विपन्न बहुलाश ही शक्ति प्रदान करता है। कोटि-कोटि भारतीयो के वे निरीह, पिछडे हुए, अकिचन, दुर्बल समुदाय जो चाहने पर भी अपना मतपत्र नही डाल पाए, मेरी चेतना उनकी विवशताओ से ऊर्जा हासिल करेगी। निर्वाचन के जटिल, आडम्बरपूर्ण और महगे कर्मकाड ही जब वामपथी दलो के भी प्रमुख क्रिया कलापो को परिचालित करते हैं तब शेष साठ प्रतिशत भारतीय जन साधारण 'राजसूय यज्ञ' मे शामिल होने का अवसर शायद ही कभी पाये ! यानी, इस प्रक्रिया मे, सदैव पवित पावन समुदाय ही पूजावेदी तक पहुँच पायेंगे। साठ प्रतिशत वाले सामान्य जन तो अभी सौ वर्षों तक मुँह बाये अलग-अलग खडे रहेंगे।

हमारे यहाँ साहित्य की तरह राजनीति मे भी 'तप रे मधुर मधुर मन' चलता रहा है, चलता रहेगा। गरीबी की सीमा रेखा, अशिक्षा की सीमा-रेखा, अस्वास्थ्य की सीमा-रेखा, कुसस्कार की सीमा-रेखा '''सीमा रेखाओ की सूची हो सकती है, मगर हमारी और आपकी और बधुवर अमुक की और महाशय तमुक की व्यक्तिगत एव वर्गगत लाभ-लोभ वाली सीमा रेखाएँ बडी ही डायनेमिक हैं। यदि सयोगवश हममे से कोई तीन हजारी-पाँच हजारी मासिक वेतन वाला निकल आए तो उसके स्वार्थ की सीमा रेखा क्या जादुई रफ्तार मे और आगे नही बढती रहेगी ?

जब कभी मैं ग्रामाचलो के किनारे-किनारे बसी हुई दलित बस्तियो के अन्दर अथवा महानगरो के पिछवाडे गदे नालो के इर्द-गिर्द बसी हुई झुग्गियो की दुनिया मे

जाता हूँ तो सुविधा प्राप्त वर्गों द्वारा परिचालित राजनीति के प्रति मेरा रोम-रोम नफरत मे सुलग उठता है।

ऐसा नही कि मैं सुविधाप्राप्त वर्गों के प्रति सारा दिन-सारी रात, बारहो महीने, साल-दर-साल निरन्तर नफरत मे ही सुलगता रहता हूँ। सनातन काल से हमारी इस भूमि को प्रकृति का विशेष वरदान प्राप्त है। सनातन काल से सुविधाप्राप्त एवं उच्च वर्गों के भी सहृदय और ईमानदार व्यक्तियो ने जन-साधारण के दुख-सुख को निश्छल तौर पर अपनी प्रतिभा का आलम्बन बनाया है। वाल्मीकि, कालिदास, तुलसीदास, रवीन्द्र, प्रेमचन्द उन्ही मे से रहे हैं। भाषा का विकास, साहित्य का विकास, ललित कलाओ के आविर्भाव और अग्रगति, समग्र मानवता को आगे बढाने वाले शिल्प दस्त-कारियाँ, खेती-बाडी और बागवानी के चमत्कार ''ढेर सारी स्थापत्य सृष्टि, रासायनिक उपलब्धियाँ, खनिज धातुओ के उपयोग, परस्पर की सुरक्षा और दुष्टदलन के लिए अमोघ अस्त्र-शस्त्र'''अर्थात मानव जीवन को बेहतर बनाने के हजार-हजार तरीके हमारे उन्हीं पूर्वजो की देन हैं जिन्होने दुर्दान्त प्रकृति को समय-समय पर नाधा था और जो न तो काम-चोर थे और न जनसामान्य के सौभाग्य को हडपने वाले। निःसन्देह महाजनी सभ्यता के गलित कुष्ठ ने हमारे इन पूर्वजो के दिल और दिमाग दूषित नही हुए थे। वराह मिहिर और आर्यभट्ट, चरक और सुश्रुत कौन थे, हमारे ही पूर्वज तो थे। अपने इन पूर्व पुरुषो के प्रति मेरा मस्तक हमेशा झुका है।

विजय बाबू, आपको हँसी तो नही आएगी यदि मैं यह बतलाऊँ कि अपने खेतो मे अधिकतम आलू उपजाने वाले उस किसान के प्रति भी मैं अपना यह मस्तक उसी प्रकार झुका दिया करता हूँ ? अपनी बगिया मे सर्वोत्तम आम पैदा करने वाले उस किसान के प्रति भी मैं अपनी आन्तरिक श्रद्धा निवेदन करता हूँ'''

तिडकम से या झूठ मूठ के वायदे करके या जातिवाद क्षेत्रवाद आदि के लुभावने नारे उछाल-उछाल कर जैसे-तैसे वोट बटोरने वाले विजयी सामद के प्रति मेरे अन्दर यदि अश्रद्धा छलकती दिखाई पडे तो क्या आप मुझे पागल करार देंगे ?

मैं शत प्रतिशत आशावादी हूँ। मुझे भावी-भारत मे अन्धकार नही दिखता''' सम्प्रति यह 'तीसरी आजादी' हासिल की गई है, निर्वाचन यज्ञ मे चरम चमत्कार उभर-कर आया है, इसके बाद इसी प्रकार चरम चमत्कारो के अभी और कई दौर आने वाले हैं ''चौथी आजादी पाँचवी आजादी, छठी आजादी, सातवी आजादी'''मैं स्पष्ट देख रहा हूँ, आगामी पच्चीस वर्षों के अन्दर बहुत से चमत्कार अपने देश मे होने वाले हैं''' उनमे से वामावर्त चमत्कारो की भी पूर्ण सम्भावना मुझको भासित हो रही है'''हमारी जनता ही एक से एक चमत्कारो की जननी होगी।

नागार्जुन

व्यक्तित्व की खोज

दरभंगा मधुबनी उत्तरी बिहार के राजनीतिक और सांस्कृतिक केन्द्र हैं। मधुबनी तो अपनी लोक कला के लिए आज भी विख्यात है। दीवालों पर अल्पना रचने से लेकर महीन खादी तक की छपाई मधुबनी शैली के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ के तालमखाने सारे हिन्दुस्तान मे अपने स्वाद के लिए जाने जाते हैं। यदि बंगभाषियों को अपने भोजन-पान, लिबास और पाण्डित्य का अहंकार है तो उनका भी कान काटने वाले मैथिल ब्राह्मण कुछ कम नही। मिथिला की मधुरता बंगाल से कन्धे से कंधा मिलाकर खड़ी है। वैसी ही हास्य श्यामल, उतनी ही द्रवणशील, रस मे डूबी हुई, उतनी ही प्रखरता से सम्पन्न, प्रतिभा प्रसूतिनी। नागार्जुन इसी धरती के लहलहाते 'बाबा बटेसरनाथ' हैं जो अपने लेखन से मिथिलाचल ही नही, सारे हिन्दुस्तान की नयी पीढ़ी को यौवन का आशीष और संघर्ष की प्रेरणा दे रहे हैं।

यह कहने की परिपाटी तो नही निभाना चाहता कि हर प्रतिभा का जन्म गरीबी और दारिद्रय मे ही होता है तब भी नागार्जुन तरौनी (दरभंगा) के दरिद्र ब्राह्मण परिवार मे ही जन्मे। पिता गोकुल मिश्र और माँ उमादेवी को लगातार पाँच संतानें हुईं और चल बसी। हार कर गोकुल मिसिर ने वैद्यनाथ धाम जाकर महीने भर का अनुष्ठान किया और जब छठवी संतान ने जन्म लिया तो आस्थाव्रती दम्पत्ति ने कुलदीपक की रक्षा के लिए उसे बाबा वैद्यनाथ का ही आशीर्वाद मानते हुए नामकरण वैद्यनाथ किया।[1] गाँव-घर के लोगो को भय सताता रहा कि बालक वैद्यनाथ भी एक न एक दिन माँ-बाप को ठग कर चला जायेगा, तब उसे 'ठक्कन मिसिर' कहकर पहले से ही कलेजा पोढा क्यो न कर लिया जाय। तो शिशु वैद्यनाथ गाँव घर के लिए ठक्कन मिसिर हो गया। पैदा होते ही जिसके प्रयाण कर जाने की आशंका स कुल परिवार के लोग आशंकित थे, वही बाद मे चलकर 'यात्री' नाम से मैथिली उपन्यास और कविताएँ लिखने लगा। यात्री कितना दार्शनिक नाम है और ठक्कन मिसिर कितना यथार्थ परक। और दोनो कितना बढ़िया समन्वय प्रदर्शित करते हैं जब 'नागार्जुन' हो जाते हैं।

माँ उमा देवी बचपन मे ही मर गई थी। पिता को इसके लिए जवाबदेह मानते हुए नागार्जुन ने इस घटना का जिक्र 'आइने के सामने' और 'रतिनाथ की चाची' में भी किया है। पिता पण्डित गोकुल मिश्र और माँ उमा देवी के दारुण रिश्तो की एक झलक 'रतिनाथ की चाची' की इन पंक्तियों मे देखने को मिल सकती है—

"रतिनाथ को अपनी माँ याद नही है। थोड़ा सा आभास मात्र है। वह

---

1. जन्मतिथि 1911 की ज्येष्ठ मास की पूर्णिमा मानी जाती है यद्यपि इसमे संदेह भी है।

गौरश्याम थी। उसे दमा का रोग था। ज्यादातर वह लेटी ही रहती थी। बस यही रति को याद है। माँ का चेहरा कैसा था? कपाट छोटा, आँखें न छोटी न बड़ी। नाक नुकीली नहीं थी। माँ का प्रसग छिड़ते ही एक भयानक दृश्य उस लड़के की आँखों के आगे नाच जाता था। वह नहीं चाहता था कि इस तरह का अप्रिय और भयानक दृश्य उसे याद आए। किन्तु सिर्फ आँखें मूँद लेने से हो कोई बात मन मे न आए, ऐसा तो कहीं हुआ नहीं।

क्या थी यह बात? यही कि रतिनाथ की बीमार माँ बिस्तरे पर उतान लेटी पड़ी है और जयनाथ रुद्र रूप धर कर बेचारी की छाती पर बैठा है। हाथ में कुल्हाड़ी है और वह अपनी स्त्री की गरदन रेतता जा रहा है। वह घिघिया रही है, लेकिन कोई भी इस नरमेघ मे हस्तक्षेप करने वाला वहाँ मौजूद नहीं है ' माँ घिघियाती है, साढ़े तीन साल के अबोध रत्ती ने यह दृश्य देखकर दम साध लिया है। घर के कोने मे बैठा हुआ वह कनखी से रह-रहकर अपनी माँ और बाप को देख लेता है···

माँ की स्मृति के साथ यह भयानक चित्र रत्ती की आँखो के आगे आ जाता है। पिता के रुद्र स्वभाव के प्रति इस बालक के हृदय मे प्रतिहिंसा की आग कभी कभी सुलग उठती है। तनी भौंहो और चढ़ी आँखो स वह बाप की ओर घूरता है। जिसको चाची से सदैव घुल-घुल कर बातें करता पाया है, उसी का अपनी माँ के प्रति वह नृशंस और रुक्ष व्यवहार रतिनाथ की समझ से परे की बात थी। वह चार साल का था, तभी माँ मरी थी। माँ के बाद चाची ने ही उसकी देखभाल की है। अकारण क्रोधी स्वभाव के इस पिता से चाची ही उसे बचाती आई है।" पृ० 31.

माँ-बाप के इन सम्बन्धो मे पिता का अपराध स्वत प्रमाणित था जो अपने दबग, गुस्सैल और कामी स्वभाव के कारण कभी भी अपने बेटे वैद्यनाथ के पूज्यपाद नहीं बन पाये। उल्टे उसके मन मे अपने पिता के प्रति प्रतिशोध की यह आग धुंधुआती रही और आज भी कुरेदने पर चिनगारियाँ फेंकने लगती है।

गोकुल मिश्र न तो ज्यादा पढ़े लिखे थे न ही कर्मठ सद्गृहस्थ ही। बहुतुपन उनकी सनातन तबीयत थी। इसलिए न कभी ढँग से खेती की न घरेलू जिम्मेदारी निभायी। ननिहाल से मिली हुई जमीन महिषी गाँव मे थी, ठीक कोसी नदी के किनारे। बालक वैद्यनाथ अपने पिता के साथ कभी-कभार यहीं रहते। यों उनका जन्म तरौनी मे न होकर *ननिहाल सतलखा मे हुआ था।* *पिता का अक्खड फक्कड* स्वभाव और उनकी दबगी के सामने भला किशोर वैद्यनाथ की दाल क्या गलती। इसलिए जब लोअर *प्राइमरी से ऊपर प्राइमरी म जाकर पढ़ने की बात आई और पिता को लगा कि चार-पाँच* रुपए का खर्चा है तो उन्होने तै किया—"नहीं, कभी नहीं। यह नहीं हो सकता। प्रात स्मरणीय नील माधव उपाध्याय का वशधर म्लेच्छ भाषा पढ़ेगा। उसी दिन धरती उलट जायेगी—और आसमान से अँगारे बरसने लगेंगे! वकील-बालस्टर बनकर प्याज लहसुन और अडा नहीं खाना है रत्ती को, उसे तो अपने पूर्वजो की कीर्ति-रक्षा करनी है ''बस, बस एक फटा-कटा अमरकोष कहीं से उठा लाए और बेटे के हाथ मे उसे थमाते हुए कहा —क्या करना है अँग्रेजी पढ़कर, क्रिस्तान बनना है! लो यह अमरकोष, जिस दिन यह

कठस्थ हो जायेगा उस दिन तीनो लोक तुम्हारे लिए हस्तामलक हो जायेंगे।" (रतिनाथ की चाची पृ० 35-36) । उपन्यास म वर्णित इन स्मृति दृश्यो म बालक वैद्यनाथ और गोकुल मिश्र के बीच युद्ध को भाँपा जा सकता है। यह तो यथार्थ ही है कि वैद्यनाथ की प्रारम्भिक शिक्षा गाँव की ही पाठशाला मे हुई जो उन दिनो 'टोल' कहलाती थी। उन दिनो का स्मृति चित्र खीचते हुए उसी उपन्यास म नागार्जुन लिखते हैं—'पण्डितों के इस गाँव मे छोटी-बडी दो पाठशालाएँ थीं। एक लोअर प्राइमरी स्कूल था। छोटी पाठशाला के अध्यापक का नाम था पडित योगानन्द ठाकुर, व्याकरणाचार्य। प्राइमरी स्कूल के मास्टर थे जयवल्लभदास। वे पुराने थे। हमेशा एक मजूर की छडी उनके पास पडी रहती थी। लडकों को पीटते भी खूब थे और पढ़ाते भी खूब थ। बडी पाठशाला का नाम था 'श्री तारिणी सस्कृत टोल, शुभकरपुर। यह चम्पाल बहुत पुरानी थी। बिहार जब बगाल सरकार के मातहत था, तब सस्कृत पाठशालाएँ टोल कहलाती थी।' (पृ० 35) दरिद्र बाप ने बालक वैद्यनाथ को ऐसी ही पाठशालाओं के हवाले करना अधिक सुविधाजनक पाया। एक तो ये पाठशालाएँ स्थानीय श्रीमतो के आर्थिक सरक्षण म चलती थी, दूसरे ब्राह्मण बटुक दशहरा दुर्गोत्सव पर चडीपाठ के लिए आमत्रित किये जाकर दक्षिणा दान भी प्राप्त करते थे। उन दिनो यह दक्षिणा अठारह आने की हुआ करती थी। वैद्यनाथ ईमानदारी से पूरी दक्षिणा अपने पिता को जब देते थे, बडा हिस्सा अपने पास रखकर एक दुअन्नी उन्हे जेब खर्च के लिए उदारतापूर्वक दे दी जाती थी। तरौनी में बटुक वैद्यनाथ मिश्र का बचपन ऐसे ही बीत रहा था जैस आज भी गरीब ब्राह्मण परिवार के किशोरो का बीतता है। किन्तु बालक शुरू स ही पढ़न-लिखने म तेज था और ऐस मेधावी छात्रो को अगली पढ़ाई के लिए मदद दने वाले सामता और महाराजाओ की कोई कमी उन दिना न थी—विशेषकर अगर वह मेधाविना ब्राह्मण कुल जाये छात्र म हा तो। सयोग स वैद्यनाथ ब्राह्मणो क प्रसिद्ध समौन कुल का वत्समोत्री था। इसलिए उसकी मदद करने स लोक-परलोक दोनो के सुधरे रहन का लाभ लोभ था ही। इसी बिना पर बालक वैद्यनाथ अपनी शिक्षा के लिए मीरघाट स्थित काशी के क्वीस कालज [अब वाराणसय सस्कृत विश्वविद्यालय] म अगले अध्ययन के लिए भरती हुआ।

बनारस म उन दिनो दरभगा महाराज लक्ष्मीश्वर सिंह की छोटी महारानी लक्ष्मीवती काशीवास कर रही थी। दान पुण्य उनकी दिनचर्या थी। इसी राजकुल की ओर स एक धर्मशाला भी सचालित थी जिसम नीचे की मजिल तीर्थयात्रियो के लिए और ऊपर के कमरे छात्रा के लिए थे। वैद्यनाथ इसी धर्मशाला के छात्रावास मे रहते थे। रानी लक्ष्मीवती अत्य त सहृदय महिला थी और नयी पीढी के तरुणो के प्रोत्साहित करने के ख्याल से बालवर्धिनी सभा का सचालन पण्डित बलदेव मिश्र से करवाती थी। बलदेव मिश्र काशी विद्यापीठ क अध्यापक थे। सामाजिक और राष्ट्रीय गतिविधियो स उनका गहरा सम्पर्क था। बाल वर्धिनी सभा के माध्यम स अवसर वाद विवाद, भाषण प्रतियोगिताएँ आयोजित की जाती थी। समस्यापूर्तियो की प्रतियोगिता भी यह सभा आयोजित करती रहती थी। नियमत कोई भी छात्र तीन बार पुरस्कार ल चुकने पर इस प्रतियोगिता मे भाग नही ले सकता था।

काशी मे खेल-कूद, राष्ट्रीय आन्दोलन, साहित्यिक कार्यक्रमो की कई धाराएँ अपनाने को सामने थी। देह से दुर्बल और स्वभाव से चुप्पा होने के कारण कबड्डी खेल-कर हाड तुडवाना वैद्यनाथ के वश का रोग नही था। एकातजीवी होने से कविता ही अधिक सुविधाजनक जान पडी और वह समस्यापूर्तियाँ करने मे जुट गए। ऐसे ही प्रयासो मे किशोर वैद्यनाथ ने बालवर्धिनी सभा की ओर से तीसरा पुरस्कार भी प्राप्त कर लिया। पुरस्कारों मे पैसा मिलता। गरीब ब्राह्मण छात्र के लिए तीसरे और अतिम का प्रतिबध कुछ अच्छा नही लगा तो उसने चौथी बार भी जाकर रानी को एक कविता सुनानी चाही। व्यवस्था के अनुसार चौथी बार पुरस्कार-सुख की कोई सुविधा न होने से मैनेजर साहब ने कहा "बडी बहन जी (रानी साहिबा) हृदय से बहुत कोमल हैं और तुम तीन बार पुरस्कार ले चुके हो। इसलिए वापस जाओ।" "आप हमारी कविता रानी जी को सुना दीजिये। हम कोई पुरस्कार लेने थोडे ही आए हैं।' मैनेजर महोदय को यह शर्त मजूर हो गई और उन्होने कविता ले ली, जो इस प्रकार थी—

लक्ष्मी ओ लक्ष्मीवती दुहु सम बूझत धीर
किन्तु कन्हे कह चचला तुहु समबूझत धीर

रानी की उदारता और सहृदयता भला ऐसी मक्खनबाजी पर क्यो न द्रवित होती। वैद्यनाथ को चौथी बार भी धनराशि प्राप्त हुई। कविता को प्रोत्साहन देने वाले इस वातावरण मे किशोर कवि की हिम्मत बढती गई और वह सस्कृत और मैथिली के छदो मे धडल्ले से लिखने लगा। पर यह तथ्य है कि सबसे पहले वैद्यनाथ ने सस्कृत मे लिखना शुरू किया था और काशी के पण्डितों को इस युवक के भविष्य को लेकर चिंता सताने लगी थी। अक्सर कानाफूसी होती कि लडका रजनी-सजनी मे फँस गया है। काशी के पण्डितो के बीच व्याकरण ही विद्या सर्वस्व था। कविता को वह प्रतिष्ठा उस समाज मे प्राप्त न थी। चाचा रघुनाथ मिश्र को जब यह सूचना कानो कान हुई तो उन्होंने अपनी चिंता पण्डित गोकुल मिश्र को जता दी। गोकुल मिश्र न व्याकरण समझते थे न कविता। उन्होने अपनी असमर्थता जाहिर करते हुए रघुनाथ मिश्र पर ही यह जिम्मे-दारी सौंपी कि वे वैद्यनाथ को उचित निर्देश दें। पर ऐसा कोई निर्देश उनकी ओर से दिया नही गया।

तब तक वैद्यनाथ पण्डित बल्देव मिश्र की प्रेरणा से काशी से प्रकाशित होने वाले 'दैनिक आज' और 'जागरण' इत्यादि अखबार पढने लगे थे। जो पण्डित समाज गीता, भागवत और हद से हद 'कल्याण' जैसी पत्रिका से आगे जाना धर्म का विनाश समझता था उसी का एक सदस्य अखबार पढे—यह भी कम क्रातिकारी न था। मिश्र जी ने समकालीन राष्ट्रीय और सामाजिक आन्दोलनो से सम्बन्धित सामग्री भी तरुण किशोरो मे वितरित करना शुरू कर दिया था। काशी के होनहार किशोर उनकी छत्रछाया मे गद्य लेखन और भाषण-कला का अभ्यास और प्रशिक्षण लेकर तत्कालीन राजनीतिक हल-चलो के प्रति आकृष्ट होने लगे थे। वैद्यनाथ भी उन्ही मे से एक थे।

काशी मे ही कवि की भेंट सन्यासी सस्कृत कालेज के अध्यापक और मैथिली के प्रतिष्ठित कवि प० सीताराम झा से हुई। वैद्यनाथ के मामा ने परिचय देते हुए

कहा —"यह लडका सस्कृत मे अथापुध श्लोक लिखता है।" वैद्यनाथ ने भा जी के आदेश पर अपने सस्कृत श्लोक सुनाये। उन्होंने ही उसे मैथिली लेखन की ओर न केवल प्रेरित किया बल्कि मैथिली छदो का गुर भी समझाया। भा जी का आशीष और प्रोत्साहन पाकर वैद्यनाथ ने मैथिली रचनाएँ शुरू कर दी और अपना उपनाम 'वैदेह' रख लिया। उन्ही दिनो भारती (हिन्दी) और वैदेही (मैथिली) नाम से दो हस्तलिखित पत्रिकाएँ भी शुरू की गई जिसके सम्पादक 'वैदेह' जी थे। पण्डित बलदेव मिश्र के सरक्षण ने वैद्यनाथ को यदि राष्ट्रीय जीवनधारा और हिन्दी गद्य की ओर मोडा तो सीताराम जी की प्रेरणा उन्हें मैथिली काव्य की मधुरिमा और देशीपन की ओर ले गई। वैद्यनाथ मिश्र की पहली प्रकाशित रचना मैथिली के पत्र मिथिला मे लहरिया सराय से प्रकाशित हुई जिसे कवि ने महामहोपाध्याय पण्डित मुरलीधर भा की मृत्यु पर शोकगीत के रूप में सन्' 30 मे लिखा था।

छुट्टियो मे गाँव जाने पर भी छन्द का अभ्यास चलता रहता। ये कविताएँ ज्यादातर गाँव के ही लोगो पर होती। लिखने का काम वैद्यनाथ करते और जिसपर लिखी जाती उसकी दीवाल पर चिपकाने का काम किसी और से लिया जाता। अक्सर ये व्यग्य कविताएँ होती इसलिए गाँव मे भीतर ही भीतर सनसनी फैल जाती और ढुँढइया होती कि आखिर असली अपराधी कौन है। धीरे-धीरे यह बात सबके कानों तक पहुँच चुकी थी कि वैद्यनाथ मैथिली और सस्कृत मे कविताएँ लिखता है और गाँव से जितने भी लडके प्रथमा मे इस बार बैठे है, अकेला वही पास हुआ है। नौ छात्रो मे से अकेले वैद्यनाथ उत्तीर्ण हुए क्योकि निरन्तर अभ्यास करते रहने से वाक्य निर्माण की क्षमता का अच्छा विकास हो चला था। गाँव मे उन दिनो एक विख्यात सस्कृत पण्डित थे—अनिरुद्ध मिश्र। नौकरी तो वे बनैली राज्य के किसी सस्कृत विद्यालय मे करते थे किन्तु गर्मियों की छुट्टियो मे जब गाँव आते थे, प्रतिभाशाली लडको को खोजकर उन्हें ब्रह्म विद्या या पिंगल रचना मे आगे निकालने की इच्छा रखते थे। इस बार उन्होंने जब सुना कि अकेला वैद्यनाथ ही नौ लडकों मे पास हुआ है तो बहुत प्रसन्न हुए और मिलने को बुलाया। गर्मी की दोपहर मे आम के बाग म बैठे बैठे वे लंगडा और बम्बइया अगोरा करते थे। उनके पास वही बाग मे लगातार तीन दिन वैद्यनाथ की पिंगल शिक्षा होती रही। उन्होंने इस कवि को वाल्मीकि और कालिदास के छन्दो की सूक्ष्म टेकनीक का बोध भी कराया। आश्वस्त होने पर परीक्षा के बतौर एक समस्या दी—'बालानाम रोदनम बलम्'। इसकी पूर्ति मे वैद्यनाथ को तीन दिन लग गए। किन्तु सफलता मिली। पण्डित अनिरुद्ध मिश्र ने वैद्यनाथ की पीठ ठोकी और जब कभी गाँव वालो के बीच बैठते अक्सर यह कहते सुने जाते कि "उसको (वैद्यनाथ) तो हमने निकाल दिया।" नागार्जुन आज भी इन तीनो के प्रति कृतज्ञता भाव रखते है और अनिरुद्ध मिश्र को सस्कृत तथा पण्डित सीताराम भा को मैथिली काव्य गुरु के रूप मे स्मरण करते हैं। पण्डित बलदेव मिश्र का योगदान तो बताया ही जा चुका है।

पण्डित अनिरुद्ध मिश्र का आशीर्वाद और प० सीताराम भा का स्नेह प्राप्त कर वैद्यनाथ धडल्ले से सस्कृत और मैथिली म कविताएँ लिखने लगे थे और समस्यापूर्तियों

मे तो अच्छी महारत हासिल कर ली थी। काशी में नौजवान पण्डों का एक वर्ग उन दिनो व्रजी और अवधी मे लिखा पढा करता था। वैद्यनाथ ने वहाँ भी प्रतिस्पर्धा की। नौजवान पडो—जो वैद्यनाथ के मित्र भी बन चुके थे—के सम्पर्क मे व्रजी-अवधी समस्या पूर्तियो पर भी हाथ आजमाया किन्तु 1931-32 तक आते-आते पता चल गया था कि यह सब यह चलने वाला नही। अत व्रजी-अवधी छोडकर खडी बोली पर उतर आना सहज ही था।

बनारस का जीवन कई दृष्टियो से लाभप्रद और प्रेरणादायी रहा। तरौनी गाँव से चलकर आया हुआ किशोर कई लोगो और अनुभवो क सम्पर्क मे आता चला गया। एक ओर सस्कृत पण्डितो की वह मण्डली थी जो सस्कृत के अलावा किसी भाषा को स्वीकार करने को तैयार नही थी। पण्डों पुरोहितो सामत यजमानो की एक अलग दुनिया थी जहाँ पूजा पाठ, व्रत त्योहार, मारण-उच्चाटन, दान दक्षिणा का बोलबाला था। कुछ धार्मिक किताबें थी और कट्टर पवित्रतावाद और जड ब्राह्मणत्व था। और इन सबके बीच वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, माध, भारवि, भवभूति, बाणभट्ट का अद्भुत सृजन लोक था। पुराणो और उपनिषदो की अपनी अलग दुनिया थी। वैद्यनाथ इनके बीच अपने लायक बहुत कुछ छाँटता रहा। प्राकृत साहित्य का अध्ययन भी वह कर रहा था इसलिए देवभाषा की गरिमा और लोकभाषा की जीवतता से वह एक साथ सस्कार ग्रहण करता चल रहा था। काशी मे उन्ही दिनो ब्राह्मणो के तप पूत नेता मालवीय जी का प्रभाव भी वैद्यनाथ तक पहुँच रहा था और उसने खादी पहनना शुरू कर दिया था। नयी चेतना की किरणें उस अपने उजालो की ओर खींचने लगी थी। राष्ट्र प्रेम, देश-दर्शन, अपने समाज के लिए कुछ कर गुजरने की बलवती आकांक्षा के साथ साथ उसके मन मे निर्व्याज करुणा का सागर लहरें ले रहा था। इन्ही दिनो की दो घटनाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं जो कवि के व्यक्तित्व निर्माण की भूमिका को और अधिक साफ करती है। पहली घटना का जिक्र डॉ० प्रभाकर माचवे[1] और डॉ० प्रकाश चन्द भट्ट[2] दोनो ने ही अपनी अपनी पुस्तको मे नागार्जुन के साहस और विद्रोह की प्रशसा करते हुए किया है। दरभगा महारानी लक्ष्मीश्वरी की देख-रेख म एक छात्रावास और धर्मशाला सचालित होती थी जिसमे ऊपर की मजिल मे सस्कृत विद्यालय के छात्र और निचली मजिल मे यात्रियो के लिए ठहरन की व्यवस्था थी। मैथिल तीर्थयात्री अक्सर इसी धर्मशाला के कमरो मे ठहरते थे। एक दिन छात्र वैद्यनाथ ने देखा कि तीर्थयात्रियो का दल तो जा चुका है किन्तु एक कोठरी की कुण्डी बाहर से लगी हुई है और मोहडी से कुछ पीला बदसूरत मवाद रिस रहा है। बदबू अलग से आ रही है। भयानक बदबू के बावजूद किसी का भी ध्यान उधर नही जा रहा है। वैद्यनाथ चुपके से गए तो दरवाजा खोलकर देखा कि कोई बुढिया मरी पडी है और बदबू उसी की नगी अकडी हुई सडती लाश से आ रही है।

1 डॉ० प्रकार माचवे (स०) नागार्जुन, पृ० 4

2 डॉ० प्रकाश चन्द भट्ट नागार्जुन, जीवन और साहित्य, पृ० 21

पहले तो वे चुपचाप जाकर उसे चादर से ढक आये फिर अपने एक विश्वस्त नेपाली सहपाठी को इसके लिए तैयार कर लिया कि वह इस अपरिचित और लावारिस शव के अंतिम संस्कार में उनकी मदद करे। काम काफी टेढ़ा था और टेंट मे पैसा तक नहीं। फिर भी लाश को एक निजी पिछौरी (ओढ़ने की चादर) मे गठरी की तरह बाँधकर दोनों ने चुपचाप श्मशान घाट पहुँचा दिया। वैद्यनाथ अपने साथी को वहीं छोड़ रानी के दरबार मे हाजिर हुए। काफी पूछताछ के बाद रानी लक्ष्मीवती के दो आदमी आये और दाहदाह की व्यवस्था करके चले गए। दाह क्रिया स्वयं वैद्यनाथ ने की। इस घटना का पता जब छात्रावास के अन्य साथियों से काशी की स्वनामधन्य पण्डित मण्डली को चला तो वैद्यनाथ पर तरह तरह के लांछन लगाए गए। चाण्डाल तक कहा गया। वैद्यनाथ को इससे विचलित होने का कोई कारण नहीं था। उन्हें यह होश तब तक हो चुका था कि सेवा ही संस्कृति का सार है। अपने को इस धर्म मे प्रवृत्त कर उन्हें आन्तरिक परितोष मिला। समस्या यह थी कि बुढ़िया के परिवार का पता कैसे लगे। यह शोध भी उन्होंने अपने पण्डा मित्रों की सहायता से पूरी कर ली। मिथिला के ख्यात दार्शनिक उदयनाचार्य के वंशज विद्यानंद आचार्य का नाम पण्डो की बही मे मिला और उन्हीं से पता लगा कि वह वृद्धा परिवार से अकेली ही आई थी। यात्री दल उसे इस दशा मे छोड़कर चलता बना। विद्यानंद आचार्य उन दिनों मिथिला के किसी संस्कृत हाई स्कूल मे अध्यापक थे। तार और पत्र देने पर जब वे आए तो भाव विभोर हो कर उन्होंने वैद्यनाथ को गोदी मे उठा लिया। कहा कि आप ही हमारे सगे भाई हो। विद्यानंद ने वहीं अपनी माँ का तर्पण किया और श्राद्ध कर्म मे उन्हीं ब्राह्मणों ने हुमच-हुमच कर खाया जो वैद्यनाथ को चांडाल कहते थे। तभी से एक अटूट आत्म-विश्वास वैद्यनाथ के भीतर पैदा हो गया और पाखण्डपूर्ण, हृदयहीन सामाजिकता के प्रति विरोध भाव भी। मानवीय धर्म समस्त धर्मों से ऊपर है—इसे स्वयं करके जाना।

बनारस में ही अब तक उनकी भेंट प्रेमचंद से हो चुकी थी। प० बल्देव मिश्र के सम्पर्क मे गांधी विचार और साहित्य से भी परिचय हो चला था। कूप मण्डूको की दुनिया से निकल भागने और अपने आपको तौलने की इच्छा जोर मारने लगी थी। तभी एक दिन छात्रावास के तीन साथियो ने तय किया—सब अपना अपना रुपया-पैसा अपने अपने बक्से मे बंद करके ताली एक दूसरे को दे-देंगे और खाली हाथ पैदल निकल पड़ेंगे। वापसी भी पैदल होगी और सारी यात्रा इंडियन रोड से की जायगी। तीनों मे से एक तो तीसरे मील से ही हार कर लौट आया। दूसरा, जो ज्यादा हिम्मतवर था, दस-बारह कोस (यानी बीस-बाईस मील) जाकर लौटा। तीसरा छात्र वैद्यनाथ इलाहाबाद पहुँच कर ही लौटा जो उसके जीवन का रोमांचक और आनंददायी अनुभव रहा। यात्रा की कुछ झलकियाँ इस प्रकार हैं।

एक जगह काफी प्यास लगी थी तो वैद्यनाथ ने देखा कोई मोची भाई जूता गाँठ रहा है। मोची स ही जाकर पीने के लिए पानी माँगा। ब्राह्मण बटुक को काशी की ओर से आता देखकर मोची ने आँखें फाड़ दी—'महाराज पानी हमारे यहाँ कैसे पिओगे ?'

'कैसे पीते हैं पानी ? जैसे पीते हैं वैसे पीयेंगे।" वैद्यनाथ का सामान्य सा उत्तर था। मोची की घरवाली भी वहाँ बैठी थी। दोनों ने आपस में समझा-बूझा कि अरे ये सुराजी बालक है। सब जगह खाता-पीता होगा। खादी तो पहने ही हुए है। तो उसने एक ढोका गुड और लोटा भर पानी धो-माँजकर सामने रख दिया। उत्तर भारत मे आज भी खाली पानी देने की आधुनिकता नहीं पैठ सकी है। वैद्यनाथ जब गुड़ खा कर मोची के लोटे से गटक-गटक कर पानी पी रहा था ऊँट वालो का एक काफिला क्षुब्ध आश्चर्य से इस दृश्य को अगले गाँवो तक फैलाता हुआ आगे बढ रहा था। उनको यह बात काफी नागवार गुजरी थी कि सफेद कपडे पहने हुए कोई उच्च जाति बालक मोची के पास बैठकर उसके हाथ का छुआ पानी उसी के लोटे से पिये। कलियुग सचमुच इसी को कहते हैं। अच्छे भले घर का लडका जात भ्रष्ट हो गया। वैद्यनाथ आगे के जिस किसी गाँव जाता लोग उसे शकित निगाहों से देखते जैसे किसी अपराधी को पकडने की कोशिश कर रहे हों। दाना-पानी मिलना तो दूर, सहानुभूति के दो शब्द भी उस अपराध के कारण दूभर हो रहे थे। इलाहाबाद तो सैर पहुँचना ही था। और ऊँट वाले न जाने कितने गाँवों तक यह खबर बाँट गए होंगे। तो निर्णय लिया कि सडक छोडकर खे -खेत चलेंगे और अनजान अपरिचित राह मे प्रयागराज पहुँचेंगे। बीच मे कोई किसान मिलता—पूछता तो उसे बताते कि काशी से आये हैं। प्रयाग जा रहे हैं। मालवीय जी का नाम और प्रभाव उस इलाके मे काफी था। ऊपर से खादी का मान भी कुछ कम न था। लोग वाग समझ लेते थे कि काशी का बटुक ही होगा—क्योंकि खादी पहनता है और मालवीय जी को जानता है। उसी समय मालूम हुआ कि क्रातिकारी काम की इज्जत भी हमारे गाँवो मे होती है बशर्ते वे सिर्फ दिखाने के खयाल से न किये जा रहे हो। वैद्यनाथ ने मोची के लोटे से पानी पिया था पर यह भी उस समय के लिए एक क्रांतिकारी काम था। यह सब आर्य समाज ने शुरू किया था समाज सुधार के नाम पर, बाद मे काग्रेसियों ने भी इसे अपने लिए जरूरी माना। गाँधी तो इस दिशा मे क्रातिकारी कार्यक्रम अपना ही रहे थे। पर आज तो सारी क्रांति राजनीतिक चतुराई और धूर्तता की पेंचीदी गलियों मे जाकर दम तोड रही है। वोट लेने के लिए ब्राह्मण विधायक अपने क्षेत्र के चमार के घर भी पानी पी लेता है पर जब दहेज लेने-देने का मौका आता है तो दूसरा ही आचरण करता है। अभी भी अपने समाज मे अन्तर्जातीय विवाहो का ढिंढोरा पिटता है कि क्रांति की जा रही है। नेताओं के लिए यह सब अब वोट कबाडने की तरकीबें भर रह गई हैं। उस जमाने मे तब कितना विरोध रहा होगा मोची के हाथ पानी पीने का। पर वैद्यनाथ ने इसे छिपाया नहीं। रास्ते भर बताते चले गए और उनको सहयोग देने वाले भी मिलते गए। चौथे पाँचवें दिन इलाहाबाद की चौहद्दी छू सके। कहाँ जाया जाय यह सवाल सामने था। पत्र-पत्रिकाओ मे आर्य समाज मदिरो की चर्चा पढ रखी थी। पता था कि हर नगर मे मदिर के साथ धर्मशाला भी होती है। वैद्यनाथ ढूँढते ढाँढते वहीं पहुँचे। वहाँ के दरवान जी वैद्यनाथ को इलाहाबाद आर्य समाज के आचार्य पण्डित गगा प्रसाद उपाध्याय के पास ले गए। उपाध्याय जी कई ग्रन्थों के लेखक और सहृदय विद्वान थे। थे तो वे काव्य-

चपरासी को चार आने घूस देकर अपनी कविता उधर पहुँचा दी और खुद आकर क्लासरूम के एक कोने मे बैठ गए। इण्टरव्यू के समय प्रिंसिपल महोदय वह कागज हाथ मे झुलाते हुए आए—

एइटा कार रचना ? के लिखे चे ? (किसकी रचना है यह ? किसने लिखा है)

महामहोपाध्याय ने उनके हाथ से लेकर कागज देखत हुए कहा —'के ? आमि देखि तो ?' (अच्छा, कौन है ? मैं भी तो देखूं ?) सुन्दर हस्तलिपि वैद्यनाथ मिश्र की ही थी और लिपि देवनागरी होने के कारण बगाली छात्र की नही होगी यह वे ताड चुके थे। चोर पकडा गया के अन्दाज म उन्हाने कहा—'धरे गेलो सर ! धरे गेलो।' (मैंने पकड लिया। पकड लिया) प्राचार्य महोदय कविता पढकर अत्यन्त पुलकित थे। घोषणा की—'आर तोमर परीक्खा होबे न। एइ होलो' (और तुम्हारी परीक्षा नहीं होगी। यही हो गई।) कविता यहां भी जबंदस्त ढग से काम आई। तब से कविता पर भरोसा बढता चला गया। जीवन की जो बाजियां हारती दिखी, वैद्यनाथ ने कविता को आगे कर के उन्हे जीता। प्रिंसिपल महोदय इतने खुश हुए कि वैद्यनाथ को पचास रुपये मासिक पर बेल्जियम निवासी एक पादरी को सस्कृत पढाने का निर्देश दिया। पर उनके लिए यह काम उबाऊ था—यद्यपि उन दिनो के लिहाज से काफी अर्थकारी था जबकि होटल का माहवारी खर्च सिर्फ दो रुपये आता था। बगाल—विशेषकर कलकत्ता काफी पसद आया। बगला भी सीख ली।

सन्' 33 मे गौना हुआ तो अपराजिता देवी तरौनी आयी। पिता से मन-मुटाव भीतर ही भीतर बना ही रहता। इसलिए अपराजिता देवी के साथ दो चार महीने मुश्किल से बीते। पिता को दण्डित करने के खयाल से जो घर छोडा तो काठियावाड, पजाब, श्रीलका और तिब्बत न जाने कहाँ कहाँ भटकना हुआ। काठियावाड म कुछ काल तक तरुण जैन मुनियो को प्राकृत पढाते रहे। कभी अबोहर(पजाब)के साहित्य सदन से निकलने वाले मासिक पत्र दीपक का सम्पादन किया। पजाब मे ही उनकी भेंट स्वामी केशवानद जी से हुई जिन्होंने वैद्यनाथ को अध्यापन और अनुवाद कार्य के लिए अपना सहायक नियुक्त किया और काफी स्नेह दिया।

कवि का मन अभी भी स्थिर नही हो पाया था। जितना पढा था उससे आगे की जानकारियो के प्रति तीव्र जिज्ञासा जाग उठी थी। बुद्ध वचन बहुत अच्छे लगते थे। कबीर वाणी की तरह उनम भी एक अकृत्रिम आकर्षण था। किन्तु उन्हे पढने की सुविधा वहाँ नही थी। बस सुनाई पडता रहता था—अमुक वग्गो, तमुक वग्गो। आखिर-कार वैद्यनाथ ने कलकत्ता महाबोधि सोसाइटी को पत्र लिखा कि बुद्ध की प्रामाणिक वाणी देखने की तरकीब बतायें। वहाँ से जो पत्र आया उसम श्रीलका का हवाला दिया गया था—अगर त्रिपिटक देखना हो तो श्रीलका जाना होगा। पालि-प्राकृत भाषाओ का माहात्म्य रहस्य वैद्यनाथ स अब छिपा हुआ नही था। अत श्रीलका जाने की मशा स्वामी जी के सामने रख दी। स्वामी जी ऐसे समर्पित और विद्या-व्यसनी अध्यापक को छोडना नही चाहते थे। काफी समझाने की कोशिश की। यह भी कहा—आदमी सिर्फ ... लिए नही पढता लिखता। उसे अपने ... का भी खयाल रखना चा...

वैद्यनाथ जी का विनम्र उत्तर था—"आगे की पढाई भी देश के ही काम आयेगी। आप यही तो चाहते हैं कि आदमी पढ-लिखकर देश के काम आए। और पढ लूँगा तो और काम आऊँगा।" स्वामी जी इस तर्क से चुप हो गए और चलते समय खर्चे के लिए दो हजार रुपये भी दिये जो मद्रास पहुँचते-पहुँचते एक गिरहकट के हवाले हो गए। रास्ते मे उसने ताड लिया था कि पण्डित की गाँठ मजबूत है। रात मे सोते समय वही साथी थैली लेकर चम्पत हो गया। खाली हाथ वैद्यनाथ रामेश्वरम् के मठ मे पहुँचे। वहाँ का रसोइया उत्तरी भारत का ही था। उससे आत्मीयता स्थापित की। श्रीलका के मठ तक पहुँचने मे उसी का सहयोग काम आया।

श्रीलका मे कोलम्बो के निकट केलानिया नामक स्थान पर 'विद्यालकार परिवेण' नामक एक पुराना विद्यापीठ है जिसका आकर्षण ही वैद्यनाथ को वहाँ तक खीच लाया था। महापण्डित राहुल साकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन आदि विद्वानो ने भी इसी मठ मे बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण की। वैद्यनाथ वहाँ के बौद्ध भिक्षुओ को सस्कृत पढाते थे और बदले मे उनसे पालि भाषा के माध्यम से बौद्ध दर्शन का अध्ययन करते थे। यो तो भिक्षु बिरादरी वैद्यनाथ जी को काफी सम्मान देती थी पर जब साथ बैठने-उठने का सवाल आता तो उसे नीचे आसन पर बिठाया जाता क्योकि वह गैरिक वस्त्रधारी संन्यासी जो नही था। एक स्वाभिमानी भारतीय पण्डित को यह बात अक्सर खलती रहती थी और उसे यह भी तो मालूम था कि बौद्ध भिक्षु बुद्धिबल और पाण्डित्य मे उसकी बराबरी के नही हैं। आपस मे यह चर्चा कभी-कभी हो भी जाती थी पर सन्यासी बेचारे वैद्यनाथ को बराबरी का आसन दे ही कैसे सकते थे जबतक कि वह खुद सन्यास ग्रहण न कर लें। आखिर एक दिन वैद्यनाथ ने तय किया कि जब तक 'विद्यालकार परिवेण' मे रहना है—संन्यास ले लेने मे ही हीनताग्रंथि से मुक्ति मिल सकेगी। आचार्य वैद्यनाथ को अपनी इच्छा का भिक्षुनाम जब चुन लेने की स्वतत्रता मिली तो उन्होने विख्यात दार्शनिक 'नागार्जुन' का नाम अपने लिए चुना। तब से वैद्यनाथ मिश्र भिक्षु नागार्जुन हो गए। बौद्ध दर्शन के अध्ययन के साथ-साथ काम चलाऊ अग्रेजी भी नागार्जुन ने यही सीखी।

केलानिया के मठ मे रहते हुए नागार्जुन ने अपना काफी विकास किया। राहुल जी और भदत आनंद कौसल्यायन पहले से ही इस दिशा मे प्रगति कर चुके थे। उनके विचारो मे क्रातिकारी परिवर्तन आ रहा था। वामपंथी चिन्तन और विचार अच्छे लगने लगे थे। सामाजिक जीवन मे कूद पडने की इच्छा तो पहले ही से थी। श्रीलंका मे रहते हुए भी तरुण सन्यासी नागार्जुन अपने देश की गतिविधियो के बारे मे न केवल पढा करते थे बल्कि देशवासियो के लिए कुछ कर गुजरने की तमन्ना भी पाल रहे थे। इन्ही दिनो बिहार का किसान आन्दोलन स्वामी सहजानद के सचालन मे शुरू हुआ। स्वामी जी जन्मना भूमिहार किन्तु आर्यसमाजी सस्कारो के सन्यासी थे। नागार्जुन से उनका पत्र-व्यवहार हुआ तो स्वामी जी का जवाब आया। 'वहाँ मुर्दों के चक्कर मे क्या पडे हो? आओ और जनता के लिए काम करो।' नागार्जुन केलानिया से आकर

किसान आन्दोलन मे कूद पड़े। यह सन्' 38 का मध्य काल था। उनकी कविताएँ उन दिनो ज्यादातर 'यात्री' नाम से ही मैथिली और हिन्दी मे प्रकाशित होती थी। पर नागार्जुन की सक्रियता सर्वाधिक किसान आन्दोलन म थी।

इसी आन्दोलन के दौरान उनकी पहली गिरफ्तारी सिवान जिले के पचरुखी ब्लाक आफिस म हुई। डॉ० माचवे ने इसका वर्णन करते हुए लिखा है, नागार्जुन भारत लौटे, सन्' 38 के मध्य मे। अमवारी (बिहार) के अत्याचारी मुस्वामी के खिलाफ राहुल साकृत्यायन ने नेतृत्व किया। उनके भिक्षु जैसे मुडित सिर पर लाठी पडी। रामवृक्ष वेनीपुरी ने 'योगी' म सम्पादकीय लिखा। नागार्जुन को किसानो के नेतृत्व के लिए पकड लिया गया। छपरा और हजारीबाग जेल म दस महीने रहना पडा। इस किसान आन्दोलन मे उनके जेल के साथियो मे समाजवादी युवानेता श्यामनदन मिश्र और किसान सभा के प्रसिद्ध नेता पण्डित कार्यानन्द शर्मा भी थे। इन्ही दिनो दो-एक बार नागार्जुन का पत्र-व्यवहार सुभाष बोस जैसे नेताओ स भी हुआ।"

जेल से छूटे तो द्वितीय विश्वयुद्ध सामने था। अग्रेज सरकार की हालत खस्ता थी किन्तु काग्रेसी नेतृत्व साम्राज्यवादी सरकार की इस शर्त पर मदद करना चाहता था कि लडाई के बाद पूर्ण स्वतत्रता मिल जायगी, साथ ही एक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना भी सभव हो सकेगी। आचार्य कृपलानी ने इस प्रकरण का उल्लेख करते हुए लिखा है—"कार्य समिति की 18 जून को वर्धा मे बैठक हुई और एक कदम और आगे बढने का निश्चय किया गया। इसने अग्रेज और उसके मित्र देशो के युद्ध लक्ष्यो की व्याख्या की माँग छोड दी। इसन लडाई के बाद पूर्ण स्वतत्रता और फौरन एक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की माँग स्वीकार किये जाने के आधार पर पूर्ण सहयोग का एक *बिल्कुल नया प्रस्ताव किया।*"[1] *स्वभावत. काग्रेस मे भीतर ही भीतर दरार पडने लगी* थी। दूसरी ओर समाजवादी और साम्यवादी दल थे जो हिन्दुस्तानी जनता को युद्ध की इस आग से बचाना चाहते थे। उन्होंने जगह जगह युद्ध विरोधी आदोलन छेड रखा था। बिहार मे इसका सचालन पटना स्थित फार्वर्ड ब्लाक कार्यालय से हो रहा था, उन दिनो वे रह भी वही रहे थे। नागार्जुन इसमे प्रमुख भूमिका निभा रहे थे। भिक्षु नागार्जुन ने एक पैम्फलेट निकाला जिसका मजमून था—'न एक पाई न एक भाई।' यानि इस लडाई मे न एक आदमी की मदद की जाय न एक पाई की। बिहार कान्फ्रेस की अध्यक्षता भी कई बार नागार्जुन कर चुके थे। देहातो मे जाकर किसानो से चावल वगैरह वसूलते थे और कार्यकर्ताओ को लाकर खिलाते थे। पर किसी को यह नही बताते थे कि वे दरभगा के मधुबनी अचल के तरौनी गाँव के रहने वाले हैं। यह एहतियात इसलिए जरूरी था कि पिता गोकुल मिश्र अगर जान गए तो पकड कर जरूर ले जायेंगे। नागार्जुन ने घर छोडा ही इसलिए था कि वे पिता से अलग रहकर उन्हे दण्डित कर सकें क्योंकि भीतर ही भीतर वे पिता की जीवन शैली से न केवल सहमत थे— वरन उसे लेकर भयानक रूप से क्षुब्ध भी थे।

---

[1]. जीवतराम भगवानदास कृपलानी महात्मा गाँधी—जीवन और चिंतन, पृ०189

'न एक पाई न एक भाई' वाला परचा छपाकर बांटने के बाद भिक्षु नागार्जुन भूमिगत हो गए। किन्तु अंग्रेज सरकार की निगाहों से बचकर निकल पाना इतना आसान न था। पकडे गए बिहार शरीफ के उसी इलाके मे जहाँ पहले गिरफ्तार हुए थे। इस बार उन्हे आठ महीने तक भागलपुर जेल मे रहना पडा। वही पिता गोकुल मिश्र ने किसी तरह खोज-खाज कर उनसे मुलाकात की। लौटते हुए जेलर स रो-रो कर कहते गए 'यह लडका बरसो से भागा हुआ है। बुढापे मे हम तो सता ही रहा है पर एक 'बछिया की पीठ म छुरा घोप कर बाबाजी बना घूमता है। इस कसाई को जब आप जेल से रिहा करने वाले हो तब तार देकर मुझे बुलवा लेंगे। हम चार जने मिलकर आयेंगे और इसे पकड कर घर ले जायेंगे।" डॉ० प्रकाश चन्द्र भट्ट ने लिखा है कि "सचमुच ही दुबारा जेल के फाटक पर हाजिर होकर पिता ने नागार्जुन को अपनी हिरासत म ले लिया।"[1] जेल से छूट कर नागार्जुन ने अपना चीवर और कमण्डल सीताराम आश्रम के हवाले किया—जो आज भी वहाँ सुरक्षित रखा है।

वैद्यनाथ के गृहस्थाश्रम वापसी का पुरानी पीढी के पण्डितो ने काफी विरोध किया किन्तु उसी टक्कर का समर्थन मिथिला की तरुण पीढी ने उनका किया। ससुराल के लोगो के लिए तो यह हारी हुई बाजी को जीतने जैसा था। नागार्जुन को महीने भर पहुनाई के लिए हरिपुर आमत्रित किया गया। मिथिला का आतिथ्य सत्कार यो भी विख्यात है। फिर सन्यासी स गृहस्थ बने दामाद की सेवा मे कोर कसर क्या होती। महीने भर तक यह सत्कार धूमधाम स चलता रहा।

यह उत्सव समागम जल्दी ही निपट गया और जीवन-सघर्ष की दूसरी चुनौतियाँ सिर उठान लगी। दो-दो बार जेल यात्रा के बाद सरकारी नौकरी मिलने का सवाल रह ही नही गया था। बूढ़े बाप के माथे पर अभावो की चिन्ताए घिरती देख नागार्जुन ने एक बार फिर अपनी कविता को पुकारा। पिता का सोचना था—'बेटा अब कही का न रहा। बुढौती ऐस ही बिना पूत की कमाई का सुख भोगे गुजर जायगी।' इसी चिन्ता का मुँहतोड़ जवाब देते हुए नागार्जुन ने आठ-आठ पेज की दो कितबिया 'बूढबर विलाप' नाम स लिखकर छपवा ली। कविता मैथिली म थी। नागार्जुन इन पुस्तिकाओ को झोले म भरकर शहर और रेलगाडी के मुसाफिरो के बीच बेचते। जो पैसा मिलता, लाकर पिता के हाथ मे दे देत। गँवई-बाप को जल्दी ही यह भान होने लगा—बेटे मे तो अच्छी काव्य-शक्ति है। इससे किताब बिकवान स बेहतर है मैं ही क्यो न हाट-बाजार जाकर इसे बेचूँ। नोन तेल जर्दा-सुर्ती का खर्चा इस बिक्री स चल निकला था। पिता ने कुछेक दिनो मे अभयदान शैली म अनुरोध किया कि नागार्जुन अब बाहर कही जाकर नौकरी करना चाहें तो मजे से जायें। हाथ खर्च चलने ही लगा था। घर म सब्जी तरकारी भी उसी आमदनी से आने लगी थी। गरीब ब्राह्मण परिवार की कोई बहुत बडी आकाक्षा भी क्या होती। तब भी खेती-बारी का ठौर-ठिकाना जमाने की इच्छा

1. डा० प्रकाश चन्द्र भट्ट : नागार्जुन जीवन और साहित्य, पृ० 25

मैं छाती मलमल कर नहा रही थी। उस समय तुम्हारा पतित्व फुकार रहा था। वो ही तुम हो न ? और अब तुमको क्या हो गया है कि कह रहे हो—देखो इन सुन्दर लडको को अपनी आँखो।' तो मुझे लगा कि यही हमारी कमाई है इतने बरसो बाद भी अपराजिता देवी को ग्राम कन्या के रूप मे पाकर।' पर यह विचार तब भी मन को कुरेदता कि मैं तो अपनी आँखो की भूख मिटा लेता हूँ, यह कैसे रह जाती है। यही सोचकर अपने छात्रो म से जो तीन-चार सुडौल किस्म के थे उन्हे घर पर बुलाता। बिठाता। चाय पिलाता और उससे कहता कि इनके लिए पकोडा बनाओ। और उनके साथ छोड देता घण्टा दो घण्टा यह सोचते हुए कि इनके साथ बात करेगी तो मन थोडा हल्का होगा। मेरे अन्दर यह भावना हुई कि सामाजिक सम्पर्क से जो घुलावट मिलावट मुझे सुख पहुँचाती है, उस तक ये भी पहुँच सके। आखिर मिलने-जुलने, देखने-सुनने से भी तो आदमी मे एक परिष्कृत और उदार सौन्दर्य बोध पनपता है। पर चूँकि वह बहुत पढी-लिखी नही थी तो उसे लगता था कि पता नही ये क्या कर रहे हैं ? कहाँ दरभगा और कहाँ यह दूर लुधियाना। कही यहाँ इनका दिमाग फिर तो नही सनक गया व मुझे किसी के हवाले कर चलते बनना चाहते हैं। दस-पाँच दिनों बाद ही उसने रट लगानी शुरू की—'भई तुम तो घर चलो।' लुधियाना की जिन्दगी उसे बहुत भारी पड रही थी। इसलिए वह जल्दी से जल्दी अपने गाँव लौट जाना चाहती थी। हम तो खैर गरीब परिवार के थे पर इसके पिता तो भूस्वामी थे। इसलिए वह जमीन-जायदाद का महत्त्व ज्यादा समझती थी। उसे लगा कि अगर गाँव छोड देती है तो सब चला जायेगा। इसलिए तय हुआ कि अपराजिता गाँव रहकर घर-बार देखेंगी। बच्चो का पालन-पोषण करेंगी और मैं चाहे जहाँ आऊँ-जाऊँ-भटकूँ। मैंने भी देखा कि हमारे लिए भी यह सुविधाजनक रहेगा। बाहर से कमाकर पैसे भेज दूँगा और जब इच्छा होगी गाँव जाकर रह भी आऊँगा। नागार्जुन अपराजिता देवी के इस विचार से सहमत होकर उन्हे पिता के पास गाँव छोड आये और दो साल तक लुधियाना मे ही अध्यापन और अनुवाद का काम करते रहे। बीच-बीच मे घर आना-जाना भी होता रहा। यही रहते हुए उन्होने 'सिंदूर तिलकित भाल' जैसी अविस्मरणीय कविता लिखी। इसके पीछे भी कवि के जीवन की एक मार्मिक घटना काम कर रही थी जो उसी के शब्दो मे इस प्रकार है—'एक बार हमने अपनी पत्नी से घर से निकलने के बाद कहा कि सिन्दूर पोछ लो। इसमे क्या रखा है। जैसे राख वैसे सिन्दूर। तो वो इस बात पर दिन भर रोती रही और हमको लगा कि कहीं कोई गलती हो गई। तो हमने इस क्षतिपूर्ति के लिए वह कविता लिखी। आज आधुनिकता भी सस्कार रूप मे आ रही है। अगर आप उसे छेडेंगे तो किसी न किसी को चोट लगेगी। भारतीय महिला के जीवन मे आज भी सिन्दूर का सास्कारिक महत्त्व है। अब हम अपनी प्रगतिशालिता के चलते अगर इन संस्कारो पर चोट करते हैं तो सस्कारों की जडता नही खत्म होती, एक दूसरे प्रकार की दिखावटी या छद्म प्रगतिशीलता जड पकडने लगती है। सस्कारो के बनने मे समय लगता है। उनके टूटने मे भी धैर्य रखना पडता है। कभी-कभी सारी लडाई दूसरे ढग से लडनी

पड़ती है। लेकिन तब यह विश्लेषण-बुद्धि काम नहीं आ सकी थी और नागार्जुन व्यक्तिगत धरातल पर भी आचरण और व्यवहार को बदलने की कोशिश कर रहे थे। उदाहरण को उन्होंने हमेशा उपदेश से बढ़कर महत्त्व दिया। इसीलिए खुद के जीवन को भी उन्होंने उदाहरण के रूप में ढालने की कोशिश शुरू कर दी थी। आवश्यकताएँ तो यों भी कम थी। जो कमाते ज्यादातर घर भेज देते। घर भी ऐसा कि दो हजार पहुँचता तो चार हजार की लिस्ट तैयार रहती। इसी तरह लस्टम पस्टम चलता रहा। सन् '42 में अपराजिता जी ने पहले पुत्र शोभाकांत को जन्म दिया। 'दंतुरित मुस्कान' शीर्षक कविता (सतरंगे पंखोंवाली) शोभाकान्त पर ही लिखी जब लुधियाना से लौटकर उसे पहली बार देखा—

अपराजिता जी ने कई-कई रूपों में भिक्षु नागार्जुन को बांधना और मुक्त करना शुरू किया। कवि का गहरा वात्सल्य इस कविता में दर्शनीय है—

> तुम्हारी यह दंतुरित मुस्कान
> मृतक में भी डाल देगी जान
> धूलि-धूसर तुम्हारे ये गात ··
> छोड़कर तालाब, मेरी झोपड़ी में खिल रहे जलजात
> ....
>
> यदि तुम्हारी माँ न माध्यम बनी होती आज
> मैं न सकता देख
> मैं न पाता जान
> तुम्हारी यह दंतुरित मुस्कान
> धन्य तुम, माँ भी तुम्हारी धन्य !
> चिर प्रवासी मैं इतर, मैं अन्य।
> इस अतिथि से प्रिय तुम्हारा क्या रहा सम्पर्क
> उँगलियाँ माँ की कराती रही हैं मधुपर्क
> देखते तुम इधर कनखी मार
> और होतीं जबकि आँखें चार
> तब तुम्हारी दंतुरित मुस्कान
> मुझे लगती बड़ी ही छविमान।

ऐसी नेह-छोह की कविताएँ उन दिनों अकेले नागार्जुन ही लिख रहे हों ऐसा भी नहीं। पर भारतीय ग्रामजीवन के बीच पैदा होने वाले सुख और रोजगार की तलाश में भटकने वाली अकेली जिंदगी का खेद केवल नागार्जुन ही पैदा कर सके हैं। प्रवासी पिता अपने ही घर में जिस अतिथिबोध से पीड़ित है, उसमें जमीन से बिछुड़ने का दुख और परिवार के आत्मीय संबंधों को काट देने वाली दूरियाँ भी शामिल हैं। उत्तर प्रदेश, बिहार, उड़ीसा के दरिद्र अंचलों से न जाने कितने नवजवान नौकरी की तलाश में बम्बई-कलकत्ता लाहौर-लुधियाना-दिल्ली आज भी भटकते रहते हैं। कहीं दूर गाँव में उनके

मैं छाती मलमल कर नहा रही थी। उस समय तुम्हारा पतित्व फुफकार रहा था। वो ही तुम हो न ? और अब तुमको क्या हो गया है कि कह रहे हो—देखो इन सुन्दर लड़कों को अपनी आँखों।' तो मुझे लगा कि यही हमारी कमाई है इतने बरसों बाद भी अपराजिता देवी को ग्राम कन्या के रूप में पाकर।' पर यह विचार तब भी मन को कुरेदता कि मैं तो अपनी आँखों की भूख मिटा लेता हूँ, यह कैसे रह जाती है। यही सोचकर अपने छात्रों में से जो तीन-चार सुडौल किस्म के थे उन्हें घर पर बुलाता। बिठाता। चाय पिलाता और उससे कहता कि इनके लिए पकौड़ा बनाओ। और उनके साथ छोड़ देता घण्टा दो घण्टा यह सोचते हुए कि इनके साथ बात करेगी तो मन थोड़ा हल्का होगा। मेरे अन्दर यह भावना हुई कि सामाजिक सम्पर्क से जो घुलावट मिलावट मुझे सुख पहुँचाती है, उस तक ये भी पहुँच सके। आखिर मिलने-जुलने, देखने-सुनने से भी तो आदमी में एक परिष्कृत और उदार सौन्दर्य बोध पनपता है। पर चूंकि वह बहुत पढ़ी-लिखी नहीं थी तो उसे लगता था कि पता नहीं ये क्या कर रहे हैं ? कहाँ दरभंगा और कहाँ यह दूर लुधियाना। कहीं यहाँ इनका दिमाग फिर तो नहीं सनक गया व मुझे किसी के हवाले कर चलते बनना चाहते हैं। दस-पाँच दिनों बाद ही उसने रट लगानी शुरू की—'भई तुम तो घर चलो।' लुधियाना की जिन्दगी उसे बहुत भारी पड़ रही थी। इसलिए वह जल्दी से जल्दी अपने गाँव लौट जाना चाहती थी। हम तो खैर गरीब परिवार के थे पर इसके पिता तो भूस्वामी थे। इसलिए वह जमीन-जायदाद का महत्त्व ज्यादा समझती थी। उसे लगा कि अगर गाँव छोड़ देती है तो सब चला जायेगा। इसलिए तय हुआ कि अपराजिता गाँव रहकर घर-बार देखेंगी। बच्चों का पालन-पोषण करेंगी और मैं चाहे जहाँ आऊँ-जाऊँ-भटकूँ। मैंने भी देखा कि हमारे लिए भी यह सुविधाजनक रहेगा। बाहर से कमाकर पैसे भेज दूँगा और जब इच्छा होगी गाँव जाकर रह भी आऊँगा। नागार्जुन अपराजिता देवी के इस विचार से सहमत होकर उन्हें पिता के पास गाँव छोड़ आये और दो साल तक लुधियाना में ही अध्यापन और अनुवाद का काम करते रहे। बीच-बीच में घर आना-जाना भी होता रहा। यहीं रहते हुए उन्होंने 'सिंदूर तिलकित भाल' जैसी अविस्मरणीय कविता लिखी। इसके पीछे भी कवि के जीवन की एक मार्मिक घटना काम कर रही थी जो उसी के शब्दों में इस प्रकार है—'एक बार हमने अपनी पत्नी से घर से निकलने के बाद कहा कि सिन्दूर पोंछ लो। इसमें क्या रखा है। जैसे राख वैसे सिन्दूर। तो वो इस बात पर दिन भर रोती रही और हमको लगा कि कहीं कोई गलती हो गई। तो हमने इस क्षतिपूर्ति के लिए वह कविता लिखी। आज आधुनिकता भी संस्कार रूप में आ रही है। अगर आप उसे छेड़ेंगे तो किसी न किसी को चोट लगेगी। भारतीय महिला के जीवन में आज भी सिन्दूर का सांस्कारिक महत्त्व है। अब हम अपनी प्रगतिशालिता के चलते अगर इन संस्कारों पर चोट करते हैं तो संस्कारों की जड़ता नहीं खत्म होगी, एक दूसरे प्रकार की दिखावटी या छद्म प्रगतिशीलता जड़ पकड़ने लगती है। संस्कारों के बनने में समय लगता है। उनके टूटने में भी धैर्य रखना पड़ता है। कभी-कभी सारी लड़ाई दूसरे ढंग से लड़नी

पड़ती है। लेकिन तब यह विश्लेषण-बुद्धि काम नही आ सकी थी और नागार्जुन व्यक्तिगत धरातल पर भी आचरण और व्यवहार को बदलने की कोशिश कर रहे थे। उदाहरण को उन्होने हमेशा उपदेश से बढ़कर महत्त्व दिया। इसीलिए खुद के जीवन को भी उन्होने उदाहरण के रूप मे ढालने की कोशिश शुरू कर दी थी। आवश्यकताएँ तो यो भी कम थी। जो कमाते ज्यादातर घर भेज देते। घर भी ऐसा कि दो हजार पहुँचता तो चार हजार की लिस्ट तैयार रहती। इसी तरह लस्टम पस्टम चलता रहा। सन् '42 मे अपराजिता जी ने पहले पुत्र शोभाकात को जन्म दिया। 'दतुरित मुस्कान' शीर्षक कविता (सतरगे पखोवाली) शोभाकान्त पर ही लिखी जब लुधियाना से लौटकर उसे पहली बार देखा—

अपराजिता जी ने कई-कई रूपो मे भिक्षु नागार्जुन को बांधना और मुक्त करना शुरू किया। कवि का गहरा वात्सल्य इस कविता मे दर्शनीय है—

> तुम्हारी यह दतुरित मुस्कान
> मृतक मे भी डाल देगी जान
> धूलि-धूसर तुम्हारे ये गात ··
> छोडकर तालाब, मेरी झोपडी मे खिल रहे जलजात
> ....
> यदि तुम्हारी माँ न माध्यम बनी होती आज
> मैं न सकता देख
> मैं न पाता जान
> तुम्हारी यह दतुरित मुस्कान
> धन्य तुम, माँ भी तुम्हारी धन्य !
> चिर प्रवासी मैं इतर, मैं अन्य।
> इस अतिथि से प्रिय तुम्हारा क्या रहा सम्पर्क
> उँगलियाँ माँ की कराती रही हैं मधुपर्क
> देखते तुम इधर कनखी मार
> और होती जबकि आँखें चार
> तब तुम्हारी दतुरित मुस्कान
> मुझे लगती बडी ही छविमान।

ऐसी नेह-छोह की कविताएँ उन दिनो अकेले नागार्जुन ही लिख रहे हो ऐसा भी नही। पर भारतीय ग्रामजीवन क बीच पैदा होने वाले सुख और रोजगार की तलाश मे भटकने वाली अकेली जिंदगी का खेद केवल नागार्जुन ही पैदा कर सके हैं। प्रवासी पिता अपने ही घर मे जिस अतिथिबोध स पीडित है, उसमे जमीन मे बिछुडने का दुख और परिवार के आत्मीय सबधो को काट दने वाली दूरियाँ भी शामिल हैं। उत्तर प्रदेश, बिहार, उड़ीसा के दरिद्र अचलों स न जाने कितने नवजवान नौकरी की तलाश मे बम्बई-कलकत्ता-लाहौर-लुधियाना-दिल्ली आज भी भटकते रहते हैं। कही दूर गाँव मे उनके

बच्चे आज भी राह अगोरा करते हैं। गरीब किसान परिवारो की तो यह नियति ही बन गई है। आर्थिक अभावो के चलते पारिवारिक सम्बन्धो का यह विखण्डन तब भी था और आज भी है। तब भी ग्रामीण वधुएँ अपने सइयाँ (स्वामी) को विदेश जाने देने को तैयार नही थी, आज भी अगर गाँवो मे ही रोजगार मिले तो तैयार नही है। डॉ० कृष्ण बिहारी मिश्र का यह सवाल नागार्जुन की कविता के सदर्भ स कितना मेल खाता है—"मेरे गाँव के जो लोग अन्यत्र जाकर बस गए, उसके पीछे क्या केवल शहरी सुविधा का आकर्षण ही था या कि कोई दूसरी प्रभाव-पीडा थी ?"1

नागार्जुन चाहे केलानिया मे रहे चाहे लुधियाना म। गाँव उनकी आँखो के आगे हमेशा रहा। कलकत्ता जैसे महानगरो मे भी वे गँवई स्वभाव वालो को खोज लेते हैं और दिल्ली के जिस इकलौते कमरे मे वे रहते हैं वहाँ भी उत्तर प्रदेश और बिहार के गाँवो के पडोसी साथ है।

लुधियाना रहकर पैसा तो कमाया जा सकता था पर प्रवासीपन के तीखे बोध ने वहाँ कवि को अधिक दिनो तक न रह सकने को मजबूर-सा कर दिया था। उसे बार-बार अपनी धरती की याद सताती थी—उसे अपने हित मित्र, घर-परिवार, कुल-खानदान, गाँव-देश के लोग बराबर याद आते थे। यह विचार भी घेर कर खडा हो जाता था—

> यहाँ भी हैं व्यक्ति औ' समुदाय
> किन्तु जीवन भर रहूँ फिर भी प्रवासी ही कहेगे हाय !
> मरूँगा तो चिता पर दो फूल देंगे डाल
> समय चलता जाएगा निर्बाध अपनी चाल।

इसी उधेडबुन मे नागार्जुन पजाब से उत्तर प्रदेश के इलाहाबाद शहर आ गए जो उन दिनो साहित्य की राजधानी कहा जाता था। निराला, पत, महादेवी, रामकुमार वर्मा, रघुपति सहाय फिराक और बच्चन इसी शहर मे थ। अमृतराय प्रकाशचन्द्र गुप्त, उपेन्द्रनाथ अश्क यानि साहित्यिका की एक पूरी दुनिया वहाँ विद्यमान थी। राजनीतिक गतिविधि का केन्द्र भी आनन्द भवन था ही। तीसरे, इलाहाबाद पहुँचकर नागार्जुन अपने प्रवासीपन के बोध से भी मुक्त हो सकते थे। इस बीच नागार्जुन के पिताश्री का भी स्वर्गवास हो चुका था। सभी दृष्टियो स इलाहाबाद को ठीक पाकर वे लुधियाना को अतिम नमस्कार कर आये और इलाहाबाद मे पाँव जमाने की कोशिश करने लगे किन्तु स्थिरता आती नही दिखी। अब तक नागार्जुन की कुछेक कविताएँ, कहानियाँ और लेख हिन्दी तथा मैथिली के पाठको के समक्ष आ चुकी थी। पहली हिन्दी कविता राम के प्रति' लाहौर से प्रकाशित 'विश्वबन्धु' मे सन् 35 म ही छप चुकी थी। मैथिली कविता सन् 30 म विशाल भारत मे एक कहानी 'असमर्थदाता' सन्'40 मे छपी जबकि सरस्वती म एकाध कविताएँ भी छपकर प्रतिष्ठा पा चुकी थी। 'निर्वासित' कविता विशाल भारत के जून '36 अक मे छपी जिसकी कुछ पक्तियाँ इस प्रकार हैं—

1. डॉ० कृष्ण बिहारी मिश्र · गाँव तब और अब (धर्मयुग, 6 जनवरी '80, पृ० 50)

इस आजीवन दंडित सुत के निर्वासन की याद
मां तिल-तिल करके मत जलना आनख शिख-आपाद
गुरुजन का वह हृदय-द्रावक अश्रुपूर्ण अनुरोध
मुंह लटकाये उन मित्रो का वह अस्फुट सा क्रोध

विशाल भारत के मई' 39 अक मे 'प्रणाम' शीर्षक कविता छपी जिसमे उन चरित्रो के प्रति अशेष स्नेह और आदर का भाव व्यक्त किया गया था जो तमाम ईमानदार कोशिशो और कठोर जीवन सघर्षों के बाद भी असफल और अनजाने रह जाते हैं। कविता को पढ़ते हुए उन दिना की निराशा और रोमानी व्यथा कथा की याद भी आती है—

थी उग्र साधना पर जिनका
जीवन नाटक दुखान्त हुआ
था जन्मकाल मे सिंह लग्न
पर कुसमय ही देहान्त हुआ
उनको प्रणाम।

इसके पूर्व सहारनपुर से प्रकाशित होने वाली मासिक 'विकास' मे कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर के सम्पादन मे छपे।

'यात्री' नाम से ही नागार्जुन ने सन' 40 की सरस्वती मे अपनी सुप्रसिद्ध कविता 'बादल को घिरते देखा है' छपवायी। जिसमे तत्कालीन सम्पादक की यह टिप्पणी भी चस्पा थी कि 'यात्री जी शिनयाग निवासी (तिब्बती) सज्जन है और इनका हिन्दी और सस्कृत प्रेम सराहनीय हे। तब तक नागार्जुन हिमालय दर्शन कर चुके थे और सस्कृत काव्यो मे वर्णित हिमालय से अपनी आंखो देखे हुए हिमालय की तुलना भी करने लगे थे—

कहाँ गया धनपति कुबेर वह
कहाँ गयी उसकी वह अलका
नही ठिकाना कालिदास के
व्योम-प्रवाही गगाजल का
ढूँढ़ा बहुत परन्तु लगा क्या
मेघदूत का पता कही पर,
कौन बताए वह छायामय
बरस पडा होगा न यही पर
जाने दो, वह कवि कल्पित था
मैंने तो भीषण जाडो मे
नभचुम्बी कैलास शीर्ष पर
महामेघ को झझानिल से
गरज-गरज भिडते देखा है

स्पष्ट ही नागार्जुन धीरे-धीरे अपने समय के यथार्थ के प्रति चौकस होने तथा कवि

कल्पना के निराले सौन्दर्य बोध से जीवन के प्रत्यक्ष सौन्दर्य को ज्यादा महत्त्व देने लगे थे। राष्ट्रीय आन्दोलन म उस समय तीन धाराएँ काम कर रही थी। मुहम्मद अली जिन्ना के विचार एक तरफ थे तो क्रातिकारी शक्तियो के दूसरी तरफ। गाधी सबसे प्रबल नेता के रूप मे सामने थे। उन दिनो गाधी को लक्ष्य मानकर भी कवि ने लिखा।

धन्य अनुशासन तुम्हारा तर्जनी का
हो गया मालूम जीने का तरीका

'प्रत्यावर्तन' शीर्षक यह कविता 42 के नवम्बर अक मे सरस्वती म छपी। ज्यादातर कविताएँ उन दिनो छद म लिखी गईं। इसी बीच सन् '44 म पजाब छोडकर इलाहाबाद आ गए। मन म कही यह बात थी ही कि कलम की घिसाई करने पर रोजी रोटी चल ही जाएगी। कविता ने पहले भी हिम्मत बढ़ायी थी, अब भी उसका भरोसा बना हुआ था। पर इलाहाबाद आठ महीने रहकर बनारस चले गए और भारतीय ज्ञानपीठ के दफ्तर मे काम करने लगे।

नागार्जुन की सस्कृत रचनाएँ दक्षिण सीलोन की पत्रिका करगम' और जोधपुर की 'कौमुदी' म प्रकाशित होती रही। पैंतालीस पचास तक हिन्दी, मैथिली और सस्कृत म काफी छप चुके थे फिर भी उनकी ओर लोगो का कोई खास ध्यान नही गया था। अपनी रचनाओ को लेकर उन दिनो बहुत सीरियस नही थे। लिखकर रख देना—भूल जाना तब भी उनकी आदत थी। आज भी इस प्रकार का कोई सिलसिला बन नही पाया है। कापी म कुछ रचनाएँ अधूरी लिखी पडी हैं तो पडी ही हैं। साहित्य कॅरियर बनाने की दुनियादारी भी नागाबाबा को अब तक रास नही आई। लगभग तभी से नागार्जुन एक शहर से दूसरे शहर की यात्रा करते रहे। कभी इलाहाबाद, कभी पटना, कभी कलकत्ता कभी दिल्ली। और जब यहाँ से भी मन ऊबा तो सुदूर छत्तीसगढ़ के अचलो मे रायपुर, गुजरात के बडौदा अहमदाबाद, मध्यप्रदेश के सागर, भोपाल, जबलपुर, विदिशा, उज्जैन, बुन्देलखड के अपने मित्र केदारनाथ अग्रवाल के यहाँ। नागार्जुन को इस निमित्त बुलाना नही पडता। वे खुद-ब खुद एक-न एक दिन एकाध वाक्य की चिटठी के बाद आ धमकते हैं। यात्रा उन्हे स्वस्थ करती है ऐसा उनका पक्का विश्वास है। इसलिए बीमारी की हालत मे उठकर चल देना उनकी आदत है। आप रोकिए तो कहेगे—'मैं रास्ते म ही ठीक हो जाऊँगा।' और निकल पडेंगे। उनके यात्री नाम की यही सार्थकता है।

ज्ञानपीठ म भी नागार्जुन अधिक दिन नही टिके। उनकी यात्राएँ उन्हे बुला रही थी। इन्ही दिनो उन्होने हँस मे आज का गुजराती कवि' शीर्षक निबन्ध लिखा। परिजात पटना स निकलता था, उसम टिहरी से निलग शीपको से यात्रा वृत्तात लिखे। — थोलिग महावीर नाम स दो परिचयात्मक लेख सरस्वती '44 के अको म छप चुके थे। माच '46 के परिजात (पटना) म एक शोधपरक निबन्ध ब्राह्मण बौद्ध युग म' छपा। हुकार (पटना) के दीपावली '4) अक म तिब्बत म आतिथ्य सत्कार' निबन्ध प्रकाशित हुआ। हुकार मे ही नागार्जुन ने सिध म सत्रह महीने' शीपक निबन्ध लिखा। गद्य की ओर यह प्रयाण इसलिए भी जरूरी था कि हि दी की पत्रिकाएँ पन्ना देख कर

रचना की कीमत तय करती हैं। वह भी कितनी। कविता को आज भी पन्द्रह-पचास रुपये मिल जायें तो बहुत समझिए। जो पत्रिकाएँ लाखों के विज्ञापन कबाडकर लाखो मे बिकती हैं वे भी अपने कवियों को कितना देती है। *यह हिन्दी शोधकर्ताओं के लिए* महत्त्वपूर्ण विषय हो सकता है। फर्ज कीजिए अगर 'जुही की कली' सरस्वती मे छपती या आज धर्मयुग म, तो निराला को कितना दिया जाता। निश्चय ही उसकी कीमत किसी कहानी या लेख से कम आँकी जाती क्योंकि उसने जगह उतनी नही घेरी। जगह ज्यादा घेरनी वाली रचना ज्यादा बिकाऊ होती है। यह बात उन दिनो के लेखकों की समझ मे आने लगी थी और वे अपनी प्रधान अभिव्यक्ति को स्वतत्र रूप स बचाये रखने के लिए यात्रा वृत्तात, परिचयात्मक निबन्ध, शोध-लेख लिखते थे। पत्र-पत्रिकाओ की जरूरत के मुताबिक उनके पास सूचनाओ और पाण्डित्य की कोई कमी न तब थी न आज। आज भी वे बगला, अँगरेजी, गुजराती, हिन्दी, मैथिली की पत्रिकाएँ अपने झोले मे रखते हैं। दो-चार किस्म के अखबार भी मिल जायेंगे उसमे। यह आदत उनकी शुरू से ही रही है।

बनारस छोडकर वे दुबारा इलाहाबाद आ गए और फिर से यही रहने की तैयारी करने लगे। इसी बीच तीसरी सतान के रूप मे बेटे सुकात का जन्म हुआ जो आजकल मैथिली के उभरते हुए कथाकारो मे से एक है। यात्री जी की मैथिली कविताएँ भी साथ-साथ लिखी जा रही थी। पर अभी सकलन वत प्रकाशन नही हो पाया था। देश आजाद हो गया था और गाँधी की हत्या भी। नागार्जुन 'बापू' के हत्यारो को लेकर काफी क्षुब्ध थे। पर काग्रेसियों पर कम गुस्सा नही था उनका। गाधीवाद को केन्द्र मे रखते हुए उन्होने चार कविताओ का एक पैम्फलेट '48 म ही प्रकाशित करवाया। गाँधी को लेकर आज भी उनकी कविता बेचैन हो उठती है। गाधी के प्रति कवि की दृष्टि क्या थी इस उनकी कविताओ मे झाँककर देखा जा सकता है किन्तु जिन्हें फिर भी दिखाई न दे उनके लिए बाबा बटेसर नाथ की ये पक्तियाँ काम दे देंगी—' आजादी के लिए समझदारी पहले थोडे-से पढे-लिखे लोगों तक सीमित थी, उसे गाधीजी आम पब्लिक तक ले आए। यही उनकी सबसे बडी खूबी मैं मानता हूँ।" पृ० 97.

इसके अलावा नागार्जुन की दृष्टि गाँधी के बारे मे काफी साफ थी। पहले के पृष्ठो पर उनका यह कथन महत्त्वपूर्ण है —

"उन्ही दिनो गोरखपुर जिले मे 'चौरी चौरा' काण्ड हो गया, जिसमे जनता की उत्तेजित भीड ने थाना जला दिया था।

"गाँधीजी बडे दु खी हुए और उन्होने सत्याग्रह तथा असहयोग की उस व्यापक लडाई को बिल्कुल स्थगित कर दिया। स्वय सेवकों के जुलूस, सरकार विरोधी सभाएँ, दमन-कानूनो के खिलाफ सघर्ष'''सब बन्द।

'आन्दोलन एकदम ठप्प हो गया।

"जन-सग्राम के प्रति महात्माजी का यह खिलवाड देश के लिए बहुत बडी दुर्घटना थी। गाँधीजी के खास साथी जेल के अन्दर बन्द थे। यह समाचार पाकर क्रोध और दु ख के मारे वे पागल हो उठे।

"कोई भी समूचा आन्दोलन जब एक व्यक्ति के मातहत होता है तो इस तरह के नतीजे बाहर आते है।" पृ० 96

गांधीजी का व्यक्तित्व चमत्कारी था। उसने हिन्दुस्तान मे नयी राजनीतिक चेतना पैदा की लेकिन उनके चेलो ने क्या किया—जब यह ध्यान मे आता है। नागार्जुन आज भी खिन्न और क्षुब्ध हो उठते हैं। गांधी हत्या के बाद अपनी 'शपथ' कविताओं के लिए वे फिर जेल मे डाल दिए गए। 1949 मे इलाहाबाद आकर मैथिली कविताओ को 'चित्रा' नाम से सकलित करके प्रकाशित कराया। विद्यापति 'देसिल बयना—सब जन मिट्ठा' का सन्देश बहुत पहले ही अपने नाती-पोतो के लिए रख गए थे। यात्रीजी ने लिखा—

जाहि भाखा मे बजइ छी, सत्त थिक स बोल
आन बाणी थीक दूरक ढोल

(जिस भाषा मे बोल रहा हूँ, वही सत्य है। दूसरी भाषाएँ दूर के ढोल हैं)
इसी मे कवि ने लिखा—

अन ने छं कंचा ने छं कौडी ने छै
गरीबक नेना कोना पढ तँक रे ?
उठह कवि, तो दहक ललकारा कन
गिरि-शिखर पर पथिक-दल चढ तँक रे।

(कविक स्वप्न-चित्रा : पृ० 8-9)

(अन्न नही है, पैसे नही है फूटी कौडी भी नही है। गरीबो की सन्ताने कैसे पढें ? उठो कवि, तुम जरा चुनौती दो। गिरि-शिखर पर पथिक दल को चढना है।)

मैथिली मे भी कवि की कविताओ का टोन' वही था जो 'हिन्दी मे। उन दिनो देश आजाद हो चुका था और नेताओ के चरित्र भी खुलने लगे थे। सेठ-साहूकारो-महाजनो की बन आयी थी। बडे-बडे देशी उद्योगपति और धन्नासेठ दोनो हाथो अपना घर भरने म लग गए थे। रामराज कविता मे कवि ने लिखा—

रामराज मे अबकी रावण नगा होकर नाचा है
सूरत शक्ल वही है भैय्या बदला केवल ढाँचा है
नेताओ की नीयत बदली फिर तो अपने ही हाथो
धरती माता के गालो पर कस कर पडा तमाचा है

(हस, जून '48)

सन् '51 मे कुछ दिनो के लिए कवि ने वर्धा की राष्ट्रभाषा प्रचार समिति म भी काम किया और अपनी आदत के मुताबिक जल्दी ही वापस लौट आया। इलाहाबाद मे रहकर स्वतन्त्र रूप से अनुवाद और लेखन कार्य की कोशिश की। इस बीच नागार्जुन उपन्यासो पर हाथ आजमाने लगे थे। 'बलचनमा' पहले मैथिली मे लिख डाला था ार वहाँ उसका कोई मार्केट नही था। सो बरसो तक धरा रहा। धीरे-धीरे कवि ने ुद उसे हिन्दी मे लिखा यह सोचते हुए कि "मैथिली माँ है, मगर उससे पेट नही

भरता। हिन्दी से पेट भरता है, इसीलिए उसे अपना कलेजा नोचकर चढा देता हूँ।"[1] इन्ही दिनो नागार्जुन ने काफी बाल साहित्य लिखा और गुजराती-बगला उपन्यासो के अनुवाद की ओर बढे। सस्कृत के मेघदूत का अनुवाद मुक्तवृत्त मे किया जो धारावाहिक रूप से साप्ताहिक हिन्दुस्तान मे छपा। गीत-गोविन्द का अनुवाद किया। शरत के उपन्यासो मे ब्राह्मण की बेटी, देहाती दुनिया और अन्य कई कृतियो का अनुवाद कार्य किया। बाद मे सशोधन के नाम पर सशोधनकर्ता ठाकुर दत्त मिश्र ने अनुवादक मे अपना नाम भी जोड दिया। उन दिनो नागार्जुन इसका प्रतिवाद करने की स्थिति मे नहीं थे। 1954 में कन्हैयालाल माणिकलाल मुशी के उपन्यास 'पृथ्वी-वल्लभ' का अनुवाद किया। इसके पहले नागार्जुन पहले चुनाव मे 'चना जोर गरम' पैम्फलेट छपवा चुके थे जो आम जनता को काग्रेसी नेताओ की करनी से परिचित करने के लिए लिखा गया था—

चना है बना मसालेदार
खाइये भी तो यह सरकार
मिलेगा परमिट बार-बार
मिलेंगे सौर सभी उधार
नया हो जायेगा घर-बार
कि लद-लद कर आवेगी कार

इन्ही कविताओ के जरिये नागार्जुन धीरे-धीरे हिन्दुस्तान की साधारण जनता तक पहुँच रहे थे और प्रगतिशील कवि सम्मेलनो मे भी जाने लगे थे। कविता के माध्यम से आम जनता को पकडने और आम जनता के बीच टहल-घूम कर कविता की शैली और और खुशबू खीचने का सहयोगी कार्यक्रम तभी से शुरू हो चुका था। धीरे-धीरे मैथिली हिन्दी का साहित्य भण्डार भी बढ रहा था। शिवपूजन सहाय, रामवृक्ष बेनीपुरी आदि साहित्यिको से अपनापा बढने लगा था। बेनीपुरी जी के ही सुझाव पर नागार्जुन ने 'यात्री' नाम केवल मैथिली के लिए रिजर्व कर दिया और हिन्दी मे अकेले नागार्जुन बने रहे।

हिन्दी मे पहला उपन्यास 'रतिनाथ की चाची' सन् '49 मे प्रकाशित हुआ, यद्यपि लिखा '47 मे ही जा चुका था। बलचनमा '52 मे। बाबा बटेसरनाथ '54 मे। 1954-55 के दौरान नागार्जुन ने योगी, बालसखा, बालक, चुन्नू-मुन्नू आदि पत्रिकाओ मे सैकडो की सख्या मे बाल साहित्य की रचना की जिनमे से अधिकाश कहानियाँ थी। बच्चो को भरपूर उत्साह और साहस दिलाने वाला साहित्य लिखते हुए नागार्जुन ने इन्ही दिनो पटना मे प्रकाशित जोगी मे बच्चों के लिए 'बुझावन काका' नाम से 'होनहारो की दुनिया' स्तभ सम्हाला। बच्चो से पत्र-व्यवहार करना, उनके प्रश्नो के उत्तर देना इस स्तम्भ की विशेषता थी। बीच बीच मे प्रत्यक्ष सम्पर्क भी बुझावन काका करते रहते थे। इसी स्तभ के द्वारा बच्चो मे काव्य लेखन कविता की प्रेरणा के खयाल से 'बुझावन

1. जीवकांत—लहर, नागार्जुन विशेषाक, नवम्बर 1970, पृ० 36

काका' ने 'तुकों का खेल' शुरू किया। छोटी उम्र के लोगों के बीच कविता की शिक्षा शुरू करने का यह अद्भुत प्रयोग था। स्तंभ लेखक के रूप में नागार्जुन ने कई अन्य पत्रों में भी काम किया। लहरिया सराय से प्रकाशित होने वाले 'पंचायती राज' में ग्रामीणों के लिए जो स्तंभ शुरू किया उसे 'चतुरी चाचा की चिट्ठी' नाम दिया। किंतु ज्योत्स्ना (पटना) में 'मुखड़ा क्या देखे दर्पण में' और जनयुग (दिल्ली) में 'यत्किंचित' स्तम्भ भी नागार्जुन नाम से ही शुरू किया। स्वतंत्र लेखन के सिलसिले इसी तरह चलते रहे। सन् 52 में युगधारा और 59 में सतरंगे पंखोंवाली तथा 62 में 'प्यासी पथराई आँखें' का प्रकाशन हुआ। इस बीच कुछ लम्बी कविताएँ भी नागार्जुन लिखते रहे जो आज भी ज्ञानोदय जैसी पत्रिकाओं में ही पड़ी हैं और पुस्तकाकार रूप ग्रहण नहीं कर सकी हैं। 'खून और शोले' बुकलेट '56 में पटना छात्र गोली कांड के ही अवसर पर लिख कर छाप लिया गया था। जन आंदोलनों से सम्पर्क आज भी कवि का टूटा नहीं है। बल्कि अब तो वह इन्हीं पर निगाह टिकाए हुए भारत के भविष्य को देख पा रहा है। पार्टियों के प्रति उसका मोह अब पूरी तरह टूट चुका है। चीन द्वारा भारत पर आक्रमण के दौरान कम्युनिस्ट पार्टी से जो अनबन हुई वह कमोबेश आज भी बनी हुई है। पार्टी के चौधरी लोग तो ऊपर के आदेशों का इन्तजार कर सकते हैं, लेकिन नागार्जुन क्यों करें ? इसलिए चाओ-माओ पर उन्होंने काफी तीखी और गुस्सैल कविताएँ लिखीं। इससे उन्होंने पार्टी साहित्य और पार्टी लेखक जैसी धारणा को सिरे से विच्छिन्न किया। कवि की पहली वफादारी अपने देश की जनता के प्रति होती है न कि पार्टी के प्रति। फलतः नागार्जुन को कम्युनिस्ट पार्टी से अलग होना पड़ा जिसके लिए वे आज भी चिंतित नहीं हैं। 1970 में उन्होंने इन्दिरागांधी के कारनामों से तंग आकर ऐन चुनाव के वक्त, फिर एक परचा छपवाया 'अब तो बन्द करो हे देवी यह चुनाव का चक्कर'। इसके पहले भारत की साहित्य अकादमी उन्हें '67 के मैथिली काव्य-संकलन 'पत्रहीन नग्न गाछ' पर पुरस्कृत कर चुकी थी '69 में। 1971 में इसी के चलते रूस भी हो आए थे। तब भी तत्कालीन सरकार की जनविरोधी नीतियों की आलोचना करने से नहीं चूके। यह भी मजेदार है कि जब कांग्रेसी सरकार को नागार्जुन आड़े हाथों लेने लगते हैं तो वामपथ और दक्षिणपथ दोनों की बाँछें खिल जाती हैं किन्तु यही कवि जब उनकी दबी-ढँकी सीवन-उधेड़ने लगता है तो उन्हें काफी उद्दण्ड और खतरनाक जान पड़ने लगता है। अफसोस है कि यह आदमी आज तक पालतू नहीं बन पाया। इसीलिए कोई भी इससे खुश नहीं है न वामपथ न दक्षिण पथ। यह किसी का है ही नहीं। कवि भी इस तथ्य से परिचित है। बस इसे ठीक जगह पकड़ना हो तो जनता के बीच जाना होगा। चाहे कोई किसान आन्दोलन हो या बिहार का जय प्रकाश के नेतृत्व वाला विराट टाँय-टाँय फिस्स वाला सम्पूर्ण क्रांति (भ्रांति) आंदोलन। नागार्जुन पार्टी मह्था का मोहभंग करते रहे हैं तो खुद भी कम मोह-खंडित नहीं हुए हैं। बिहार का जनान्दोलन ऐसा ही था। जेल से निकल कर कवि को कहना पड़ा कि "मैं रण्डियों और भड़ुओं के कोठे पर पहुँच गया था।" जे० पी० ने जब यह टेपित वाक्य सुना तो प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा था "नागार्जुन से हमारे मतभेद हो सकते हैं किन्तु मुझे विश्वास नहीं होता कि यह भाषा

उनकी ही होगी।" इसी आदोलन के चलते उन्होने विहार सरकार से मिलने वाली तीन सौ रुपयो की मासिक वृत्ति भी ठुकरा दी। आज भी सरकारी आग्रह उसे लेने के लिए बना हुआ है और नागा बाबा हैं कि पटना मे होकर कई बार चुपचाप गुजर जाते हैं। जिसने कभी द्रव्य को भरी जवानी के दिनो मे प्रधानता नहीं दी, वह भला अब क्या देगा ?

जिसने अपना सारा जीवन देशी जनता के हित सरक्षण और उनकी भाषा के विकास मे लगा दिया उसे भला ये प्रलोभन कहाँ तक झुका पायेंगे? नागार्जुन की किताबें अब तो काफी संख्या मे छपने और बिकने लगी हैं। बेटे कमाने लगे हैं। विश्वविद्यालयो के पाठ्यक्रम बिना नागा बाबा के पूरे नही होते। तब भी उनकी चाल नही बदली है। वही एक अदद झोला, वही देशी चाल-ढाल, वैसी ही आग और वैसी ही तड़प। कमलेश्वर के ये वाक्य मेरे आशय को ज्यादा अच्छी तरह व्यक्त कर पायेंगे —"नागार्जुन से मिलना तो भीतर की आग माँगना। बहुतो के पास नहीं होती यह। खुद वह नही देगा। किसी शाम या सुबह उसके साथ लग जाना, तब वह जलता हुआ शहर तुम्हे दिखायेगा। और गौर से देखना, उस शहर के बीचो-बीच वह खुद भी जल रहा होगा। × × × यही वह व्यक्तित्व है जिसने शिव पूजन सहाय की परम्परा को आत्मसात किया है और हर तरह के प्रभा मण्डलो को नोच-नोच कर फेंकता रहा है।" (लहर—नागार्जुन-विशेषांक, पृ॰ 26)

दस बरस होने को आए इस लिखे हुए को। सत्तर मे लिखी गई ये पंक्तियां आज 80 मे भी ज्यो की त्यो बरकरार है। यद्यपि नागार्जुन अड़सठवें को भी आँख मारते हुए आगे बढ रहे है। वही फक्कड़ाना अन्दाज। वही गुस्सा फटकार। वही नेह-छोह। वही सादगी। वही विकलता। जैसे जीवन मे वैसे ही कविता मे भी। फिर भी भाई लोग अभी भी अपने-अपने 'टावर' मे बैठकर नागार्जुन को शुद्ध साहित्य मे तलाशने की कोशिश कर रहे हैं। शुद्ध साहित्य क्या होना है इसे तो वे ही जानें ? पर पार्टी साहित्य क्या होता है इसका भी जवाब हमारे पास नही है। हाँ ! अगर आप रामविलास जी की बात पर भरोसा कर सकें तो उन्हे ही आगे करके कहना चाहता हूँ—"यह सही है कि आज नयी कविता के सन्दर्भों मे नागार्जुन की चर्चा नही के बराबर है लेकिन कल जब समाजवादी दलो का बिखराव दूर होगा, जब हिन्दी प्रदेश की श्रमिक जनता एक जुट होकर नयी समाज व्यवस्था के निर्माण की ओर बढेगी, तब नयी कविता का अस्तित्ववादी सैलाब सूख चुका होगा, तब निम्न मध्य वर्ग और किसानों और मजदूरों मे भी जन्म लेने वाले कवि दृढता से अपना संबध जन आंदोलनो से कायम करेंगे, तब उनके सामने लोकप्रिय साहित्य और कलात्मक सौंदर्य के सन्तुलन की समस्या फिर दर पेश होगी और तब साहित्य और राजनीति मे उनका सही मार्ग दर्शन करने वाले अपनी रचनाओ के प्रत्यक्ष उदाहरण से उन्हे शिक्षित करने वाले, उनके प्रेरक और गुरु होंगे कवि नागार्जुन।" (नयी कविता और अस्तित्ववाद, पृ॰ 14।)

कविता : चंद वुद्धिजीवियों की महफिल के वाहर

ऐसा लेखक जो कभी मार्क्स और लेनिन, माओ और हो-ची मिन्ह का नाम न जपता हो, डांगे, राजेश्वर और नाम्बूदरीपाद की खिदमतदारी मे न लगा हो, फिर भी भारत की गरीब और संघर्षरत जनता से प्रेम करता हो व चालाक, गैर ईमानदार, भ्रष्ट, अराष्ट्रीय राजनेताओ से झगडता, उन्हे नंगा करता हो, उसे क्या कहेंगे आप ? व्यक्ति के रूप मे भी आदमी की एक राजनीतिक समझ होती है। लेखक के रूप मे भी हम उस समझ से उसे वचित नही कर सकते। हम या तो उसे अस्वीकार करेंगे या स्वीकार। पार्टी लेखक के रूप मे हम चाहे तो उस पर दया कर सकते हैं। तब भी यह सारा व्यवहार हमे उसके लेखन के सन्दर्भ मे तय करना पडेगा। हमारे लिए सबसे महत्त्वपूर्ण है एक लेखक का व्यक्तित्व। जब हम मान लेते हैं कि वह हमारा लेखक है, तब हम उसको वही को सुनना चाहते हैं। उसके विचारो से परिचित होते हैं। और अन्त मे उससे सहमत या असहमत भी हो सकते हैं। पर यह असहमति उसकी वैचारिक दृष्टि के प्रति ही सभव है। अनुभव-सम्पदा के प्रति नही। नागार्जुन जैसे लेखको पर विचार करते हुए इन मुद्दो पर बहस समावित है। एक ओर वे लोग हैं जो फिराक गोरखपुरी के शब्दो मे, 'साफ कायल भी नही साफ मुकरता भी नही', तो दूसरी ओर वे जो 'बाबा' की धूनी और चिमटे के चारो ओर बारूद की चिलम सुलगा रहे हैं और तीसरी ओर कुछ निहायत शालीन अतः अभिजात रुचियो वाले आलोचक-पाठक हैं, जिन्हे पडित नागार्जुन के सुधरने और वापस होने का इन्तजार है।

नागार्जुन को देखकर यह सवाल उठता है कि मुक्तिबोध पर लिख-लिख कर तो आलोचक गगा नहा आया, पर नागार्जुन अभी इतनी बड़ी भगीरथी क्यो नही हो सके। उनकी कविता भी क्या मरणोपरात वीरता पुरस्कार प्राप्त करेगी ? या हम उसे यूँ ही जाने देंगे ? खेमेबाज आलोचको और निष्क्रिय पाठको के बीच हमारे समय की जो कविता इस कवि के द्वारा लिखी जा रही है वह बेजोड है छद के हरिजन-युग मे वह छदोल्लास मे मस्त है, जटिलता की तमाम मुश्किलो के बीच वह बेहद सम्प्रेष्य और कारगर है, आधुनिक शहरी काइयाँपन और चतुराई के बीच खूब-खूब सरल और दबग है। साहित्यिक मौसमो और फहराते हुए झण्डो के प्रति बेखबर न होते हुए भी जो इनके शोर-शराबे स आतंकित या त्रस्त नही हैं, बल्कि इनकी बचकानी हरकतो के प्रति काफी उदार है। जिस अपने भरे बुढापे मे भी नयी पीढी के भटकाव को ललकारने की चाव है और सही रास्तो की पीठ थपथपाने की हिम्मत है, वही नागार्जुन है। नागार्जुन जिनके लिए लिख रहे हैं उन लोगो को अभी सामाजिक मच पर आना है। हमारी राजनीति का करिश्मा ऐसा है कि वे और पीछे होते जा रहे है। प्रगतिशील राजनीति अपने आचरणो मे उतनी ही दकियानूस, भयभीत और खस्ताहाल है जितनी कि 'गैर-प्रगतिशील'

राजनीति। इसे नागार्जुन से बढ़कर कौन जान सकता है। प्रगतिशीलता की इस रेल पर नागार्जुन बाकायदा टिकट कटा कर बैठे भी हैं, पर वह कहाँ ले जा रही है, इसका भान होते ही बोरिया-बिस्तर सहित बिना स्टेशन के भी उतर पडे है और उन्हे इसके एवज म गार्ड की गालियाँ सुननी पडी हैं। उन्हे डाँटा-फटकारा गया है। झिझोडा गया है। पर नागार्जुन इससे पस्त नही हुए। अपना सामान कन्धो पर उठाकर अकेले ही चल पडे हैं रवीन्द्रनाथ के उस यात्री की तरह जो बिना किसी साथी का इन्तजार किये हुए अकेले ही निकल पडता है। त्रिलोचन और नागार्जुन दोनो को एक साथ पाकर मैंने यह प्रसग छेडा था। त्रिलोचन विहँस कर बोल उठे थे, "मैं तो कभी कम्युनिस्ट पार्टी का सदस्य नही रहा। बाबा नागार्जुन जरूर थे। मैं कभी उन लोगो के निकट भी नही गया, क्योकि मैं न गाली दे सकता था इसलिए सुनना भी पसद नही किया। बाबा ने उन्हे गालियाँ दी हैं तो गालियाँ सुनी भी है। मैने दिया ही नही तो सुनूँगा कैसे ?"

बाबा एक साथ सब कुछ चाहते हैं। कविता लिखना और कविता जीना भी। यही तो निराला भी चाहते थे। पर ऐसा चाहने वालो को अकेले ही मैदान मे उतरना पडता है। अकेले ही जिन्दा रहने की, अकेले दिखने की झझटें उठानी पडती हैं। नागार्जुन तो खैर अब इतने अकेले भी नही। कलकत्ता, पटना, दिल्ली, इलाहाबाद, भोपाल-विदिशा मे उनके यात्रा शिविर लगते हैं और नागार्जुन अलीगढी पायजामा, गले मे ठेठ भोजपुरिया स्टाइल का गमछा लपेटे, कोट पहने, कनटोप लगाये इस-उस समारोह को गुलजार करते रहते हैं। यह बेहद सच है कि शिविरो मे सभी सम्प्रदायों की भीड रहती है और नागार्जुन की कविता की झाड-फटकार मे सभी रस लेते रहते हैं। वे भी जो उनसे असहमत हैं, वे भी जो सिर्फ श्रोता है। यद्यपि सिर्फ श्रोता जैसी कोई सज्ञा आज हो नही सकती। 'कविता की सुबह' मे पाठ करते हुए नागार्जुन ने जब 'मत्र' कविता सुनायी थी तब सम्पूर्णानदी चेहरो पर भी विस्मय की एक आभा चमक उठी थी। सुना है बनारस मे कुछ सस्कृति प्रेमी लोग इस कविता के खिलाफ अभियान छेडने वाले थे और त्रिलोचन शास्त्री जैसे लोगो से दस्तखत लेना चाहते थे। नागार्जुन हिन्दुस्तानी रोगो के लिए विदेशी नश्तरो का उपयोग नही करते। वे शुद्ध भारतीय औजारो को नये सिरे से इस्तेमाल कर सकने म पूर्णत दक्ष है क्योकि वे पुराने प्रमाणिक पण्डित हैं—ठेठ बनारसी शैली के। सस्कृत, पालि, प्राकृत के ज्ञाता। हिन्दू, बौद्ध, जैन विचारधाराओ के सर्मीरी अध्येता। लोक मे प्रचलित झाड-फूँक, टोने टोटके के प्रत्यक्ष दर्शी। बौद्ध भिक्षु नागार्जुन ने खूब दुनिया देखी है। गरीब ब्राह्मण कुलनदन हैं। वे तुलसी दास की तरह भले ही 'मगन कुल' मे न जन्मे हो पर दरिद्रता का आलीशान ठाठ-बाट उन्होने देखा है और प्रचण्ड पण्डिताई उनके चारो ओर हर क्षण रही है। कभी विद्यापति की तरह कभी महापण्डित राहुल की तरह। इसलिए वे आधुनिक पण्डितो से अपराभूत हैं और पुरानो से अनभिभूत। अभिभूत होना वे जानते ही न हो, ऐसा भी नहीं। पर ऐसे लोगो से जो कोरे पण्डित नही हैं। अपने ज्ञान और विचार को जो जनजीवन मे

उतार सकने की क्षमता रखें। मनुष्यता जिसस नयी चमक पा सके, वही पाण्डित्य उन्हें प्रिय है। पण्डित होना और बात है। पण्डित दिखना और बात वे इस मायने म पुराने हैं। दिखते नही। परहैं। शब्द उनकी वेश-भूषा है तो अर्थ उनकी आत्मा। दूर स पहचानने मे उन्हे काफी दिक्कत आती है। घनानद की तरह ज्यो-ज्यो नजदीक से निहारा जाय, वे अधिकाधिक खूबसूरत लगते जाते है। जब हमे पता लगता है कि शब्दो का यह दुस्साहसिक प्रयोक्ता उनके तर्कों की सीढी भी चढना जानता है, तब हमे यह रहस्य भी मालूम होता है कि शब्द-गढना कोई हँसी खेल नही है। शब्द गढना एक पूरा आदमी तैयार करना है। सिर्फ पट्ठे लडाना नही। उस्तादी दिखाने वाले के बूते के बाहर की बात है यह। पवित्र आचरण करना पडता है। घनघोर आत्म विश्वास जगाना पडता है—तब कोर्सगधी, साडम्बर आरती या चितकबरा विकास जैसे आविष्कार हो पाते हैं। सोच सोचकर मरना पडता है तब कही एक शब्द जन्म लेता है, जो सीधे कविता बनता है। दण्डी ने शायद यही अनुभव करते हुए शब्द को काव्य कह दिया था। नागार्जुन दण्डी की धारणा को बल देते हैं। पर उसे आगे भी ले जाते हैं कि शब्द अपने-आप मे क्या है अगर वह हमे किसी निश्चित विचार तक नही पहुँचाता। नागार्जुन अपने शिविरो मे यह यात्रा तय करते हैं। वे हमे उन विचारो तक पहुँचाते हैं, जो हमारे सगे तो हैं पर भय या सकोच या अज्ञान के मारे हम जिन्ह अपना कहने मे कतराते रहे हैं। हम समझते रहे है कि या तो हमी उसके योग्य नही हैं या फिर वही स्पृहणीय नही। ऐसे कवि ही हमारे भय के अँधेरे म उजाले की हिम्मत पैदा करते हैं। हमारी सिली हुई जुबानो के टाँके टूट जाते हैं, हमारा गूँगापन धीरे-धीरे खत्म होने लगता है। हम महसूस करने लगते हैं कि चीजो और घटनाओ पर जो बहस चल रही है, उसमे हमारी शिरकत भी सहज-सभव है। वह हमारी ही बहस है और हमारी अपनी भाषा मे है। पिछले दिनो हिन्दी कविता के सामने एक टेढी समस्या आ खडी हुई थी और उसका नाम था—सवादहीनता। आज भी कुछ कवियो के साथ यह कोढ लगा हुआ है। वे पढे जा रहे हो या खुद बाँच रहे हो—उनकी कविता अपने मकसद ही प्रकट नही कर पाती। बेचारा पाठक अपने कवि पर इतना भरोसा किए रहता है कि खुद के भेजे को ही लानत देता है। पाठकीय अधश्रद्धा के चलते लेखक अपनी सारी अक्षमताओं के बावजूद बच निकलता है, अपने पाठक को दयनीय और विवश करार करता हुआ। नागार्जुन की कविताएँ कभी इस उद्दण्डता पर उतरती ही नही। साहित्यिक अशिष्टता का यह उपक्रम उनके लिए अपने परिवेश के प्रति गद्दारी जैसा है। कविता जब भी लिखी जाती है, उसके समय के श्रोता उपस्थित रहते हैं। वह उन्हे ही सबोधित रहती है। अगर आज की कविता अपने समय के प्रति बेहद चौकस है तो उस इस पर भी विचार करना चाहिए कि वह किनके लिए लिखी जा रही है। अगर क्राति के सूत्र के रूप मे उसका प्रयोग हमारे समय म होना है, तो चद बुद्धिजीवियो की महफिल मे स उठकर उसे उन चौराहो पर आना होगा, जहाँ कुछ लटके बाज कविता के नाम पर कमाई कर रहे हैं। हिन्दी कविता के विचारशील, मर्यादित, गभीर श्रोता को अपनी भडेती शैली मे रिझाकर चौपट कर रहे हैं। कविता

को उठकर वह जाना ही होगा, अपनी अभिजात शैली का परित्याग कर जन-शैली अपनानी होगी, अगर उसे जनता को कवि-सम्मेलन षडयन्त्र से बचाना हो तो। इसकी कोई छूट आज मिलना मुश्किल है। परायी सस्कृतियो के आक्रमण बहुत तेजी से हो रहे हैं। मुहावरे, विचार-शैलियाँ विना किसी कस्टमी रोक-थाम के चले आ रहे हैं। विदेशी सामानो से हमारे देश को उतना खतरा नही है, जितना पराये विचारो से। कौन नही जानता कि विचार का भी एक परिवेश होता है। उसकी अपनी प्रासगिकता होती है। कविता ही नही, समूचे लेखन के सन्दर्भ मे यह प्रासगिकता चुनौती की तरह बराबर ललकारती है। कलाओ का जनोन्मुख होना इस ललकार का सही उत्तर है। भारतेन्दु ने पहली बार यह महसूस किया था कि साहित्य का प्रधान रिश्ता जनता से है। इसलिए उन्होने जनता की बोली-बानी को अपने लिए चुना। द्विवेदी युग के जमाने मे रत्नाकर जैसे लोग भी रहे पर मैथिलीशरण गुप्त ही हमे अपने समय के लगते हैं। क्या कारण है कि रत्नाकर को पढने के बाद हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि भले ही यह कविता बीसवी शती मे लिखी गई हो, पर इसका निवास काल और भी पीछे है। रत्नाकार कला चतुर और भाषा-समृद्ध व्यक्ति थे। पर वे बुढा गई सभ्यता के चेहरे की पुरातन रौनक की ओर हमारा ध्यान खीचना चाहते थे। लेकिन हमारे पाँवो और आँखो की स्थिति-सरचना ही कुछ ऐसी है कि हम चाहकर भी पीछे नही लौट सकते। हमे या तो अपने समय के साथ रहना होगा, या फिर उससे आगे। नागार्जुन साथ-साथ भी है और आगे-आगे भी। उनका ध्यान समकालीनता पर भी है और तत्कालीनता पर भी। बहिर्मुखी कवि होने के नाते उनकी कविता देशकाल से निरपेक्ष नही हो पाती। कवि स्वय को एक सजग प्रहरी के रूप मे हर क्षण कविता के मोर्चे पर सन्नद्ध किये रहता है। समस्याएँ, चरित्र, घटनाएँ, मौसम कुछ भी उसकी दृष्टि से बच नही सकता। सबको वह अपनी गिरफ्त मे लाना चाहता है। तात्कालिकता भी कई प्रकार की हो सकती है। ऐसी तात्कालिकता जो सबको उलझाए हुए हो, क्या उसे सिर्फ तात्कालिकता के नाम पर टाला जा सकता है। नागार्जुन जब अपने समय के राजनीतिक आचरणो पर कविता लिखते हैं या किसी गोली काड पर, उनकी कविता हमारा ध्यान अपने समय की उन घटनाओ के प्रति खीचती है, जो सिर्फ घटनाएँ नही हैं। बल्कि भारतीय आबादी की प्रधान चिन्ताएँ हैं। यह तात्कालिकता खतरनाक भी है और पक्ष-विपक्ष के बीच बँट जाने वाली भी। तब भी कवि की निर्द्वन्द्वता विलक्षण है। कल इन कविताओ का क्या होगा—यह सवाल अक्सर टकराता है। हम यह भी जानते हैं कि पीढियाँ अपने योग्य कविता का चयन स्वय करती हैं। सस्कृति का अग बन जाने वाली कविता तो उँगलियो पर गिनी जाती हैं। किन्तु ऐसी कविताएँ प्रचुर हैं जो अपने समय मे लोक आकर्षण का केन्द्र रही हैं। पर यह भी तय है कि जब भी राजनीतिक अन्याय, भ्रष्टाचार, दिवालियापन, शोषण, अराष्ट्रीयता का वातावरण होगा, नागार्जुन की कविताएँ अगली पीढ़ियो के काम आती रहेंगी। उन्हे स्वत्व की रक्षा और उसके लिए सघर्ष करने को उकसाती रहेंगी। कविता इसलिए कभी महत्त्वपूर्ण नहीं हुई कि उसमे कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाओ और व्यक्तियो का उल्लेख किया जाता रहा है। उसकी

महत्ता उसके मानवीय सरोकारो के सन्दर्भ म है। हमारे युग म ये सरोकार बहुविध हैं। हम किन्हे चुनते है और अपनी कविता के लिए महत्त्वपूर्ण मानते हैं, यही सवाल सर्वप्रमुख है। नागार्जुन जैसे कवियो की चिन्ता आखिर है क्या ? क्या वे सचमुच किसी नितात व्यक्तिगत सवाल का अनावश्यक महत्त्व देने की कोशिश कर रहे हैं ? क्या उनकी काव्य-चिन्ता व्यक्तिगत कही जा सकती है? उत्तर नकारात्मक होगा। नागार्जुन अपने लेखन मे भी जागरूक भारतीय नागरिक की चिन्ता का प्रतिनिधित्व करते हैं। आम आदमी के दु खो—अनुभवो को अपनी कविता का प्रधान स्वरूप स्वीकार करते हैं। वे उन छद्म बुद्धिजीवियो में से नही हैं जो भय के मारे भीगी बिल्ली बने हुए हैं या जटिल गम्भीरता का ताना-बाना बुनते हुए रेशमी कीडो की तरह अपने ही खोल म कैद हैं। उनकी कविता जनता से निरतर सवादरत है। उसका कोई सुख ऐकातिक नही, अकेलापन उसकी नियति नही, इसलिए उसकी तात्कालिकता भी सिर्फ तात्कालिकता नही है। वह अपने समय स सीधी टक्कर है। ताल ठोकना न भी हो तो भी गोरिल्ला अदाज की लडाई है। वस्तुत यह कवि किसी को भी नही बख्शता है। खुद को भी नही। सर्वोपरि है जनता और कला साहित्य सब उसके प्रति गहरे रूप से जिम्मेदार है। जनता से कटकर जनता की बात करने वाले लोगो की सख्या हमारे जमाने मे काफी है। नागार्जुन उन विरल लेखको म से हैं जो जनता को ही अपना स्रोत मानते है। इसीलिए उनका लेखन जनभावना का सही प्रतिनिधित्व करता है। उसकी नाराजी, राजी खुशी विचार मथन सब उनकी कविता म हैं। किन्तु कविता का चेहरा इतना सपाट नही है, जितना कि हम समझते हैं। जो सपाट है, वह कविता हो कैसे सकती है ? कविता या तो सहज होगी या फिर जटिल। कही शरद-सरिता की तरह अतल पारदर्शी तो कभी वर्षा काल की नदी की तरह विचार आकुल, भावविह्वल। दोनो ही स्थितियाँ सपाटता की नही हैं। हा ! स्पष्टता और दो टूकपन की अवश्य हैं। नागार्जुन स्पष्ट और दो टूक कथन भगिमा वाले कवि हैं। उनके आशय तक पहुँचने के लिए पाठक या श्रोता को द्रविड प्राणायाम की मुद्रा नही अपनानी पडती। आर्य शैली में ही वह हम बार बार सबोधित करते हैं

जबकि ढेर सारे तथाकथित बड़े कवि निरतर नये होने की कोशिश म हैं, नागार्जुन की चि ता अपने समय की कविता को सतुलित और कालातीत आधारभूमि देना है। कविता और छद, सगीत और कविता, कविता मे लय आदि प्रश्नो पर वे निरतर सोचते रहते है और इसी सोच के आधार पर उनकी यह धारणा टिकी हुई है कि आधुनिक कविता को छद के करीब जाना चाहिए। उन्होने ढेरो कविताएँ मुक्त छद म लिखी हैं पर उनकी अधिकाश कविताएँ छदोमय है। तुक और लय स समन्वित। छद एक प्रकार की सीमेंण्टिग है, साथ ही साफ सुथरी सडक भी। पाठक उस जल्दी ग्रहण कर लेना है। कविता के अस्तित्व की रक्षा की चिन्ता जिन्हें होगी और जो आज भी कविता को सस्कृति केन्द्र के रूप म प्रतिष्ठा दिलाना चाह रहे हैं, उन्हे छन्द की यह वास्तविकता स्वीकार करनी होगी। मुक्त छद के आविष्कारक निराला ने भी यह समझ लिया था कि गेयता और छदमयता का असर क्या हो सकता है। 'वर दे वीणा

वादिनि' जैसा गति कदापि हमारी आधुनिक सस्कृति का अग न बनता अगर वह एक सुललित छद-परिधान मे न होता। नागार्जुन यहाँ आज की कविता की उस एकागिता पर प्रहार करना चाहते हैं जो सारे काव्य-परिवेश को एकरस और उबाऊ बनाये दे रही है। ऐसे घटिया कवियो को अनेक गुंजाइशें दे रही है जिनम काव्य-प्रतिभा का नितात अभाव है। कविता जिनके लिए सिर्फ पक्तियो का ऊल-जलूल सिलसिला बनकर रह गई है। नागार्जुन की यह मान्यता है कि ठीक मुक्त छद वही लिख सकता है, जिसे छद शास्त्र की गहरी पहचान हो। तुको और लयो का निष्णात प्रयोक्ता ही मुक्त छद के मैदान मे सफल हो सकता है। दूसरी ओर वे उन तुक्काड लोगो को भी खतरनाक मानते है जो मच की कविता के नाम पर दाढी फटकार कविताएँ सुनाते हुए भोंडी, अश्लील तुको का अबार लगा रहे हैं। तुक मात्र ध्वनि नही है। वह अर्थ की एक खूबसूरत इकाई भी है। कविता की समूची पक्ति वहाँ कुछ देर के लिए विराम लेती है। तुक इस प्रकार एक हाल्टिंग स्टेशन है। अगर वह काफी-साफ-सुथरा और तरोताजा न हुआ तो सारी यात्रा को प्रभावहीन, अनाकर्षक और वितृष्णामय बना देगा। मच पर गला फाड अदाज मे कविता पाठ करने वालो की तुकें इसका नमूना हैं। हिन्दी कविता को इससे भी खतरा है। इस प्रकार की कविता श्रेष्ठ श्रोता की रुचि को नष्ट करती है और कोरे श्रोता को गलत सस्कार देती है। उसका काम जातीय रुचि का उन्नयन और परिष्कार है। मच पर इन दिनो कविता जो कुछ कर रही है, नागार्जुन जैसे कवि उससे सतुष्ट नही है, बल्कि चिंतित हैं। लोक के बीच कविता का स्वरूप निखरा हुआ होना चाहिए, फूहड मजाक और भड़ैती नही। गरीब देश की श्रमिक जनता की कविता काफी जिम्मेदार किस्म की होगी, जो अपने श्रोताओं का न केवल उत्साह-वर्धन करेगी बल्कि उसे अधिकाधिक जागरूक भी बनाये, उसके सहिष्णु सस्कारो को बदलेगी न कि भद्दे सवादो स उनका मनोरजन करेगी। इसीलिए नागार्जुन अपने समकालीनो की कविता को जनता के बीच ले जाने का आग्रह करते हैं। अगर जनता अकेली छोड दी गई और गम्भीरता के नाम पर सारी कलाएँ शासकीय कला-परिषदो और अभिजात-गोष्ठियो तक सीमित हो गईं तो कविता अपने युगीन दायित्वो की पूर्ति नही कर पायेगी। अखबारो, पत्रिकाओ, आकाशवाणी-प्रसारणो तथा कवि-सम्मेलन के मचो पर उसे एक साथ अपनी जगह बनानी होगी। जनता के अलग-अलग सामाजिक स्तरो तक पहुँचने के लिए शैली-वैविध्य की खोज करनी होगी। वर्ग-विशेष की रुचियो मे कैद होकर रह जाना कविता के लिए आत्महत्या जैसा प्रयास है। नागार्जुन इसीलिए गोष्ठियो से कही अधिक महत्त्व कवि सम्मेलनो को देते है। मच पर वे चुटकी बजाकर नाच भी लेते है तो केवल इसीलिए कि उनकी जनता को उनका यह नाच भी काफी पसद है। अगर हिप्पी कवि अपनी कविता गिटार पर सुना सकता है तो क्या हम मच पर छद तुक के माध्यम से दकियानूस कहे जायेंगे ? उसका अपना आदमी बनने के लिए उसकी मस्ती और मनोरजन के बिन्दुओ को पहचानना होगा। अलगाववादी बुद्धि जीविता को अपना लिहाज और अहत्याग कर जनजीवन से एकीकृत

सम्मिलित कण्ठ से गाते मेरी कीर्ति अमर,
जीवन चरित्र
लिख अग्रलेख अथवा छापते विशाल चित्र।
इतना भी नही, लक्षपति का भी यदि कुमार
होता मैं, शिक्षा पाता अरब समुद्र पार
देश की नीति के मेरे पिता परम पण्डित
एकाधिकार रखते भी धन पर, अविचल चित

× × ×

निराला ने सामतवाद और पूँजीवाद के जिस एकाधिकार की चर्चा अत्यत दुख के साथ की है उसका असर भी सामाजिक जीवन म दिखाया है—

भाव म हरा मैं, देख मन्द हँस दी बेला
बोली अस्फुट स्वर से—'यह जीवन का मेला
चमकता सुधर बाहरी वस्तुओ को लेकर
त्यो त्यो आत्मा की निधि पावन, बनती पत्थर।

कवि की चिन्ता का यह सामाजिक धरातल ही उससे यह माँग करवाता है कि मनुष्य की भिन्नता क धरातल खत्म किए जाएँ और एक ऐसे समान धरातल की रचना हो जहाँ चेतना पत्थर बनन स बच सके। वैभव का उन्मत्त प्रदर्शन कितना क्रूर और अमानवीय हो सकता है इसकी मिसाल नागाजुन की यह कविता है—

अदर प्रीतिभोज के टेबुल बाहर घिरी कनातें
धन पिशाच मुस्काते है घुल के करते है बातें
रसगुल्ले पर कैनेडी हैं बर्फी पर ख्रुश्चेव
चाऊ पर है बरफ्मनाई नेहरू पर है सव
चाट रहे हैं कुछ प्राणी बाहर जूठन के दोने
चहक रहे है अदर ये लक्ष्मी के पुत्र सलोने
कला गुलाम हुई इनके कविता पानी भरती है
सौ सौ की मेहनत इनकी मुस्कानो पर मरती है

निराला और नागाजुन अपने अनुभवो म कितने निकट हैं और अपनी चिंताओ मे कितने आस पास, बताने की जरूरत नही रह जाती। निराला नागाजुन की तरह पार्टी के सदस्य नही है किन्तु उनकी पीडा का कारण राजनीतिक और आर्थिक है। कवि अगर सचमुच कवि है तो उसकी सहानुभति समाज के उस हिस्से के प्रति होगी जो अल्प विकसित और अभावग्रस्त है। जिसकी सामाजिक दशा दयनीय और चिंताकारक है। नागार्जुन जब धन कुबेरो को धन पिशाच या कुबेर के छौने कहकर बिम्ब रचते हैं तब उनकी भावना का पता लगता है। निराला प्रहार की गाली की भाषा का इस्तेमाल बहुत कम करते है लगभग नही के बराबर। नागाजु न इसमे सिद्धहस्त हैं। उनकी कविता अपनी गालियो का निर्माण भी कर लेती है। ऊपर के दोनो शब्द इसी आशय का सकेत करते है।

नागार्जुन इस वर्ग का मजाक उडाने मे भी रुचि लेते हैं—

चुल्लू मे लेकर झांका तो बोला ढाकुरिया का पानी
देखो, बडी कार स उतरी, बैठ गई मोटी सेठानी
चलने को दस-बीस कदम, बस थक जायेगी
जहाँ बैंच है मुश्किल से वापस आयेगी
पूछो जाकर किस चक्की का रानीजी खाती है आटा
यह लो जमुहाई लेकर वह खीच गई कैसा सन्नाटा !

प्रतीक रूप म देखने से कविता के अर्थ की अनेकानेक परतें खुलती हैं। कामायनी मे प्रसाद ने लिखा—

सुख, केवल सुख का वह सग्रह
केन्द्रीभूत हुआ इतना
छाया पथ मे नव तुपार का
सघन मिलन होता जितना

सग्रह-धर्म की यह परिणति अवश्यभावी है। इसी कारण इसमे जडता, चेतना लुप्ति और गतिशून्यता आती है। 'चलने दो दस बीस कदम बस थक जायेगी' के निहितार्थों के पीछे यही अनुभव काम कर रहा है। पूँजीवादी जीवन शैली धीरे-धीरे इसी थकान की ओर बढ रही है और नागार्जुन जैसे दूरदर्शी कवि इस देख पा रहे है।

इसका यह अर्थ कदापि नही कि पैस का कोई महत्त्व ही नही है और यह कवि राष्ट्रीय समृद्धि के बदले हम सबको वैराग्य और तपस्या की ओर ढकेलना चाहता है। यह भी नही कि कवि औद्योगिक विकास या उत्पादन का विरोधी है। किन्तु वह जिस 'लक्ष्मी' की कल्पना करता है वह जनलक्ष्मी' है—जिसके यहाँ सबका भोग-भाग बराबर है। चन्द लोगो के पास टिककर उनकी चेरी हो जाने वाली लक्ष्मी विकाऊ है और राष्ट्रीय जीवन के लिए सांघातिक भी। वह उनके लिए भी अनिष्टकारी है जिनके पास है क्योकि उसकी उपस्थिति भय और चिंता का कारण ही पैदा नही करती बल्कि सारी जीवन दृष्टि पर चौबीसो घण्टे हावी हो जाती है। कवि उन्हे भी मुक्ति दिलाना चाहता है। उनके जीवन म खुली हवा, चहलकदमी और सामजस्य की अभिलाषा करता है—

बस, बस, बस
रहने दीजिये
जरा सा सब्र तो करें
बरतें तो जरा-सा परहेज
उठाएँ नही दोयरो की बातो के सवाल
उठाएँ नहीं नफा-नुकसान के सवाल
अभी तो आप हवा खान आय हैं
करने आय हैं चहलकदमी

देखिये भी तो, झुकी है दूब की नोकें
कितना दमदार है ओस की बूंदो का मोतिया नूर

कविता पूर्ण मनुष्य की तलाश है। किन्तु यह मानवीय पूर्णता पूंजीवादी सस्कृति म सभव ही नही है। इसकी सभवनीयता उदार और उदात्त, उन्मुक्त और निर्भय मनुष्यता के बीच ही सभव है, जो कि इस व्यवस्था मे दुर्लभ है। यह व्यवस्था व्यक्तिभेद और वर्णभेद पर टिकी हुई है। नाना प्रकार के आडम्बरो और प्रदर्शनो पर आधारित है। देवी देवता तक पक्षपात युक्त और सामाजिक न्याय से रहित हैं। निराला के 'राम की शक्ति पूजा' की एक पक्ति है—

अन्याय जिधर, हैं उधर शक्ति'

नागार्जुन ने इस प्रासगिक अनुभव को प्रधान अनुभव बनाकर 'काली माई' शीर्षक कविता लिखी है—

मुण्डमाल के लिये गरीबो पर निगाह है
धनपतियो के लिये दया की खुली राह है
× × ×
माता तुमको प्रिय होगी हिंसा की भाषा
ऐसा है विश्वास और ऐसी है आशा
× × ×
हमको क्या हम तो यो ही पिसते आये हैं
भारी कल के पुर्जे हैं घिसते आये हैं
धनपतियो की खुशियो म खुश तुम भी रहना
उनके ही हित हुगरी मे तुम भी बहना
अस्सी प्रतिशत जनता,की खातिर कृपाण है
बाकी लोगो की खातिर बस पुष्प बाण है

नागार्जुन की कविता म भारतीय समाज का यह हिस्सा कवि के क्रोध, व्यग्य और आक्रमण का लक्ष्य बना है। कवि यहाँ तीखे आवेश म है। धन और धर्म का यह समीकरण राजनीतिक शक्तियो से गठबधन करके अस्सी प्रतिशत लोगो पर शासन करता है जिसकी पहचान इस दोहे मे मिलती है—

खडी हो गई चाँप कर ककालो की हूक
नभ मे विपुल विराट्-सी शासन की बदूक

कवि ने शासन की इस बन्दूक को अनेक रूपो म अपनी कविता मे प्रस्तुत किया है। कही वह हिटलरी तेवर के साथ है तो कही सारे प्रजातान्त्रिक गुमान और ठसक के साथ। क्या जवाहरलाल नेहरू और क्या इन्दिरा गांधी—सबके शासन काल मे सडको पर अपनी रोटी और आजादी की मांग करने वाले हमेशा इस बन्दूक के शिकार हुए और सत्ता का गजराज झूमता हुआ चलता रहा। क्या हुआ आपको कविता मे इन पक्तियो का सदर्भ इसी प्रसग मे समझा जा सकता है—

रानी-महारानी आप
नवाबो की नानी आप
नफाखोर सेठो की अपनी सगी माई आप
काले बाजारो की कीचड आप, काई आप
गिन रही, सुन रही
सुन रही, गिन रही
हिटलर के घोडों की एक-एक टाप को
क्या हुआ आपको, क्या हुआ आपका ?
इन्दुजी, इन्दुजी,...

राजनीति, धर्म और वैभव वाली शक्तियों के इस गठजोड को देखना और उससे अपनी जनता को आगाह करना इस कविता की प्रधान प्रतिज्ञा है। इस कविता को पूरी करने के लिए कभी-कभी कवि को बिल्कुल अखबारी स्तर तक उतरना पडता है किन्तु इस उतार को जानते बूझते हुए भी वह स्वीकार करता है। वह जानता है कि कविता का मुख्य लक्ष्य जन-जागरण है। कलाएँ अरसे से धनपतियों और राजाओ की गुलामी करती आ रही हैं किन्तु आज उनका धर्म इस गुलामी को छोडकर जनजीवन के प्रति समर्पण भाव प्रकट करता है। कवि की कविताएँ इसी समर्पण मुद्रा के चलते कभी-कभार अखबारी शैली भी अपना लेती है। किन्तु यह सब उसकी अज्ञता के कारण नहीं बल्कि उद्वेग-अतिरेक के कारण है। कविता को इतने धडल्ले से जनान्दोलनो के बीच ठेल देना कोई मामूली हिम्मत का काम नही। ज्यादातर कवि तो अपनी छवि को सुधारने मे ही ढेर सारी महत्त्वपूर्ण घटनाओ को नजरअन्दाज करते चलते हैं। उन्हे यह भय भी सताता रहता है कि शासन की त्योरी जाने क्या कर बैठे। नागार्जुन अकेले ऐसे कवि हैं जिन्हे न तो शासन की त्योरी का भय ग्रस्त करता है न ही कला-सरस्वती का आगन्तुक कोप ही। वे अपनी विद्या के स्वामी हैं और कबीर की तरह 'वाणी के डिक्टेटर'। भय और सकोच नागार्जुन की दुनिया के बाहर तो हो सकते हैं पर भीतर नहीं।

उनकी कविता का वास्तविक ससार वस्तुत पारिभाषिक अर्थों मे सर्वहाराओ का ससार कहा जा सकता है। पिछली दुनिया वह है जिसे वे नष्ट करना चाहते हैं, यह दुनिया वह है जिसे वे नये सिरे से सगठित और विकसित करना चाहते हैं। बचपन से ही गरीबी की मार खाने और जीवन भर सघर्ष और असुविधा का जीवन जीने वाले इस कवि की सहानुभूति उस कवि की सहानुभूति मे कई कदम आगे है जो ग्रामीण विश्व को बौद्धिक दृष्टि से देखता चला आ रहा है। यह कवि सिर्फ गाँव म पैदा भर नही हुआ है, गाँव से जुडा हुआ भी है। गाँव की सरल और अकुण्ठित बिरादरी का प्रेमी है। वे लोग जो गाँव छोडकर नगरो महानगरो और उपनगरो की ओर चले गये हैं इस कवि की निगाह उनका पीछा भी निरन्तर करती रहती है। यह वहाँ भी जाता है, उनके साथ रहता है। उनके जीवन-सघर्ष को देखता है और उनके भविष्य के लिए कविता को जुटाता है। जरूरी नही कि जिसे गाँवो की, वहाँ के लोगो की, कल कारखाने मे

काम करने वालो की तथ्यगत जानकारी हो वह कविता लिखते समय उसका लाभ ले ही सकता हो। इसके लिए जरूरी है वह लोक सवेदना, सहृदयता और जुड़ाव जो कविता को प्रामाणिक बनाते हैं। नागार्जुन की कविता इस रूप मे बतौर फैशन नही, जरूरत के तहत पैदा हुई है। सिद्धातवादी आग्रहो के फलस्वरूप भी वह नही जन्मी है। कवि की भीतरी पीडा और अनुभव-प्रबलता के बलबूते पर उसका स्रोत फूटा है।

यही वह अस्सी प्रतिशत आबादी है जिसकी चर्चा कवि ने बार-बार की है। खेतो मे काम करने वाले खेतिहर मजदूर, किसान, महानगरो मे रिक्शा-ठेला खीचने-वाले, बोझा ढोने वाले, बस-ट्राम के ड्राइवर, फैक्टरियो के चटकल मजदूर, धान कूटती किशोरियाँ, फुटपाथो पर पडे हुए भिखारी, गूंगे-बहरे लोग, असहाय बुढापा काटते वृद्ध-जन, हिमालय की बर्फीली घाटियो मे देशाभिमानी व्रती सैनिक, विज्ञापन सुन्दरियाँ, सामाजिक बर्बरता का बोझ ढोती युवतियाँ, कूडे-कचरे के ढेर से भोजन की तलाश करते हुए भूखे-नगे भिखारी, सब नागार्जुन की कविता-यात्रा के महत्त्वपूर्ण सहचर है। अगर ये लोग न होते तो शायद नागार्जुन की कविता की दुनिया ही अधूरी रह जाती। यो तो इस कवि ने तेलगाना और जयप्रकाश के नेतृत्व वाले आन्दोलनों मे भी अपनी कविता को झोक दिया है किन्तु वह तो एक अस्थायी घटना है। कवि का लगाव इसी जनता से है और वह अपने इसी लगाव को कई-कई रूपो मे पेश करता है।

इन कविताओ को पढते हुए ऐसा लगता है जैसे हम किसी बडे परिवार के मुखिया की डायरी पढ रहे हो। और सयोग से वह मुखिया चित्रकार भी है। नागार्जुन अपने इस परिवार के सुख दु ख, राजी-खुशी, सघर्ष-प्रयत्न और सुबह-शाम तक की दिनचर्या से न केवल परिचित हैं बल्कि उसके भागीदार भी हैं। परिवार का जीवन ही उनका अपना जीवन है। इसीलिए इस सारे प्रसग मे उनकी आत्मीयता अद्भुत ढग से प्रकट हुई है। विज्ञापन सुन्दरी की कुछ पक्तियाँ इस प्रकार हैं—

> आओ, बेटी, आ जाओ पास बैठो
> तफसील मे बतलाओ···
> कहाँ कहाँ जाना पडा ? कै कै बार ?

विज्ञापन-सुन्दरी से तफसील मे पूछना सिर्फ पूछना भर नही है। सामाजिक जीवन के उस यथार्थ का उद्घाटन करके तथा कथित भद्र लोगो के उस चरित्र की ओर इशारा करना भी है जिनका हिम हृदय विज्ञापन सुन्दरी की मुस्कान की मृदु मद्धिम आँच मे गलने लगता है—

> ओ, हे, युग नदिनी विज्ञापन सुन्दरी,
> गलाती है तुम्हारी मुस्कान की मृदु मद्धिम आँच
> धन कुलिश हिम-हिम कुबेर के छौनो का
> क्या खूब !
> क्या खूब !

कवि के मन मे इसके लिए कोई पछतावा या ग्लानि नही। सामाजिक विकास की यात्रा मे शिकार और शिकारी का परपरागत सामतीभाव भी काम करता आ रहा है। वर्गों

की आपसी पेशकश भी चल रही है। इस पेशकश में अस्तित्व रक्षा बेहद जरूरी है। विज्ञापन सुन्दरी की खूबी यही है। नागार्जुन ने कविता शुरू करते हुए लिखा था—'तुम्हारी चाची को यह गुर कहाँ था मालूम।' ऐतिहासिक सदर्भ म कविता नारी के स्वतन्त्र व्यक्तित्व और आत्मनिर्भरता को भी प्रमाणित करती है।

वे नारी की आर्थिक और सामाजिक स्वतन्त्रता के कल्पक हैं। यह स्वतन्त्रता नारी जाति अपने बलबूते पर ही प्राप्त करेगी। दी गई स्वतन्त्रता कभी भी सार्थक और मूल्यवान नही होती। 'रतिनाथ की चाची' मे उन्होंने नारी की सामाजिक विवशता और उसकी अन्त शक्ति का निरूपण किया है। 'कुम्भीपाक म यही लेखक नारी को सुविधा और विलास के शोषण से मुक्त कर उसे स्वावलम्बी बनाना चाहता है। 'चम्पा' के द्वारा शिल्पकुटीर की स्थापना और टाइप मशीन लेकर बैठना इसी आर्थिक आत्मनिर्भरता की प्रस्तावना है। 'रतिनाथ की चाची' भी आजीवन चरखा कात कर अपने को आत्मनिर्भर बनाती है। नागार्जुन ही क्या, आज तो ज्यादातर लेखक और विचारक स्वतन्त्रता के सन्दर्भ म आर्थिक आत्मनिर्भरता को मूलभूत आधार मानने लगे हैं। विज्ञापन सुन्दरी' जैसी कविताएँ इसी पृष्ठभूमि की देन हैं।

एक और कविता है— घिन तो नही आती है?' जिसमे कुली मजदूरो, बोझा ढोनेवालो, ठेला खीचने वालो का चित्रण है जिनका साबका दिन भर धूल धुआँ और भाफ से पडता है और मेहनत जिन्हे शाम तक थकाकर चूर कर जाती है।

अपने वासो' की ओर लौटते हुए शाम को इनकी भेंट ट्रामते या बस मे आपस म होती है। कभी-कभी कुछ अभिजात मानसिकता वाले लोग भी ट्राम गाडी के पिछले डिब्बे मे बैठ जाते हैं, पर उन्हे अपनी सफेदपोशी के चलते इन कुली मजदूरो के ठहाको, कत्थई दाँतो की मोटी मुस्कानों, बेतरतीब मूँछों की थरकनो, ठहाका और सुरती फँकौव्वल से सख्त परहेज है। कवि उनकी इस श्रेष्ठता ग्रंथि को भाँपता है।

सच सच बतलाओ
अखरती तो नही इनकी सोहबत ?
जी तो नही कुढता है ?
घिन तो नही आती है ?

बडे नगरो म कुली मजदूरो की अपनी अलग जिंदगी है। दिन भर जी-तोड मेहनत करने के बाद देस-कोस की बातें करना, एक दूसरे के सुख-दुख म हाथ बँटाना, एक की चिट्ठी स पूरे गाँव का हालचाल लेना —यानी कि अकुठित सामाजिकता और उल्लास के वातावरण को निरन्तर ताजा किये रहना इनकी विशेषता है। महानगरो की आत्म केन्द्रीयता और वैयक्तिक कुठा इन्ह दबोच नही पाती। धरती से जुडे हुए ये लोग सपनो म भी उसकी धडकन सुनते रहते हैं। यह एक ऐसी मूल्यवान दुनिया है जिसे आधुनिक सभ्यता ने आउट आफ डेट करार करके निरस्त कर दिया है। तभी सामाजिकता के नाम पर अनगढ़ता और खुलेपन की, सरल और निश्छल स्वभाव की, ग्रामीण चरित्रात्मकता की जीवनदायी परम्पराओ को छाँट-छाँट कर नष्ट किया जा रहा है। किन्तु यह कवि चुन चुन कर इन्हें ही फिर से स्थापित कर रहा है—

ये तो बस इसी तरह
लगायेंगे ठहाके, सुरती फाकेंगे
भरे मुंह बातें करेंगे अपने देस-कोस की

नागार्जुन सर्वहारा की संस्कृति को जानते हैं। उसकी आधारभूत विशेषता है—सामाजिक जीवन शैली। कुण्ठाहीन जीवन। पारस्परिक हित-लाभ। हमी हम ठोस वाली पूँजीवादी जीवनशैली जहां शोषण और दमन पर आधारित है वहीं सर्वहारा की सामाजिकता का रहस्य है उसकी श्रम-परायणता। कवि इसी श्रम-परायण जीवन का चित्र हमारे सामने खींचता है और इसी दुनिया मे रमता है। अनगढ किन्तु बेबाक चरित्रो का प्रशंसक है। आधुनिक दुनिया की कूट-बदमाशियो और चतुराइयो से उसे बेहद चिढ है। पर इसका इस्तेमाल इसी दुनिया के खिलाफ अगर कोई करे तो हमारे इस कवि का आशीष पा सकता है। यही दुनिया है जो कवि के अपने घर जैसी है। चारो ओर चक्कर लगा आने के बाद वह यही आकर दम लेता है। अपनी थकान मिटाता है। भविष्य के सुखद सपने देखता है। नेह-छोह की बातें करता है। बहू-बेटियो की परेशानियो से स्वय को वाकिफ करता है और उनकी पीठ पर हाथ फेरते हुए उन्हे जीवन के सघर्षों मे योद्धा की तरह जूझते जाने का गुर बताता है।

यह भी स्पष्ट कर देना जरूरी है कि नागार्जुन अपने कवि को सामाजिक रिश्तो के सन्दर्भ मे सक्रिय किये रहते हैं। इस दुनिया के वे बुजुर्ग है। बूढ़ो और जवानो के झगडो मे न पडकर वे युवाओ की पीठ थपथपाते हैं। अपने किए-कराए, आधे तिहाये काम को इन्ही जवानो पर छोडते है। उन्हे नयी पीढी पर कितना भरोसा है। इसका प्रमाण उनकी यह बँगला कविता है—

सोरे दाडालुम छेडे दिलन पथ। आहा निजेइ ओर चलाच्छेरथ
ओटा तो सुपात्र सतति आमार। दिब्बि तो सामले निलोखेत खलिहान

(रास्ते से अलग हटकर खडा हूँ, अब तो वे अपना रथ खुद हांक रहे हैं। वे हमारी योग्य सतानें हैं, जभी तो खेत खलिहान सम्हाल लिया है)

कामकाजी, मेहनतकश लोगों की इस दुनिया से ही नये ससार का भविष्य बन सकता है। और वह नया ससार भावनाहीन तो कदापि न होगा। मनुष्य की सर्वोपरिता देर सबेर तो प्रतिष्ठित होगी ही। विज्ञान की अधी दौड मे आज भले ही नेह-छोह को दो कौडी मान लिया जाए और मानव-विवेक को हृदय शून्य हम मान लें, किन्तु आधुनिक सस्कृति यदि अपने मूल तत्त्वो से विरत हो जाएगी तो उसे हम मानव-सस्कृति कहेंगे कैसे ? गुलाबी चूडियां' कविता मे एक ड्राइवर पिता ने अपनी सात साला बच्ची की कांचवाली चार चूडियां बस मे गीयर के ऊपर लटका रखी है जो रफ्तार के मुताबिक निरन्तर हिलती रहती है। यह एक पिता का सुख है जो पुत्री की ओर से सौगात मे मिला है। कवि झुककर इसके बारे पूछता है और जो उत्तर पाया है वह प्रत्याक्रमण जैसा लगता है—

मैं भी सोचता हूँ
क्या बिगाडती है चूडियाँ
किस जुर्म पे हटा दूँ इनको यहाँ से ?

मशीन और मनुष्य मे भावोच्छल एका भी सभव है। आपाधापी पूर्ण जीवन मे तरल भावुकता की जरूरत कही ज्यादा महसूस होती है। मरूस्थल में हरियाली जैसा महत्व होता है इस भावनामयता का। हमारी नयी कविता समय के एक हल्के से झटके मे अचानक प्रज्ञा-प्रखर तो उठी है और भावुकता को छिछली कहकर अपनी दुनिया से निष्कासित कर रही है। नागार्जुन इस गलत निष्कासन के विरोधी हैं। दूधिया वत्सलता का मूल्य कितना है इसे उनसे अधिक कौन जानता है तभी तो ड्राइवर से झुककर अपना स्पष्टीकरण देते हैं—

हाँ भाई, मैं भी पिता हूँ
वो तो बस यूँ ही पूछ लिया आपसे
वर्ना ये किसको नही भायेंगी ?
नन्ही कलाइयो की गुलाबी चूडियाँ !

उनकी दुनिया की खूबसूरती इसी दूधिया वत्सलता के चलते है। यही है जो साधारण रिक्शा चालक के फटी बिवाइयो वाले पैरो को वामन के पाँव के रूप मे देखती है। यही है जो दिल का दर्द कभी न बतलाने वाले, कभी उसास न भरने वाली, हमेशा जहर पीने लडकी की व्यथा-कथा तक भी पहुँच कर आत्मीयता स्थापित कर लेती है।

नागार्जुन की भावुकता और उल्लास के ये तरगित प्रसग हैं जहाँ वे समाज की प्रत्येक पीडा को माँ की तरह गोद ले लेते है और व्यापक सामाजिक सहानुभूति का वातावरण रचते हैं। **कविता माँ की गोद की तरह ही है इसे उन जैसे कवियों को पढकर ही समझा जा सकता है।** वह एक निश्छल और प्रकृत मन की प्रतीति है। कोरे विवेक के बल पर उसका वितान नही ताना जा सकता। हृदय की भावुकता और कोमलता ही वह धरती है जहाँ कविता के बिरवे उगते और पनपते हैं। विवेक तो माली की तरह बस उसे तराशता भर है। सामाजिक सन्दर्भों मे रूप-आकार और रग देता है। किन्तु वह उसे पैदा नही कर सकता। नागार्जुन इसी कोमल और भावुक हृदय के स्वामी हैं। उनकी यह भावुकता न तो किसी सिद्धान्त से प्रतिबन्धित है न ही किसी अवान्तर दबाव से दबती है। यह वह भावुकता है जिसके मूल मे करुणा और प्रेम की मनोवृत्ति का निवास है। जिसमे व्यापक सामाजिक सहानुभूति है। निश्चय ही नागार्जुन केवल अभावग्रस्त समाज के कवि नही हैं, वे समाज की विडम्बनाओ के कवि भी हैं। वे स्नेह-सागर की तरह लहराते रहते हैं। इतनी तरलता और उदारता है उनमे।

नागार्जुन की कविता का प्रथम ससार यही है। गाँव-देश की धरती, वातावरण, पेड-पौधे, रीति-रिवाज, बोल-चाल सबसे उनका निकट का रिश्ता है। यात्री होने के बावजूद वे सबको याद रखते हैं। बाहर से जितने बौने और क्षीण वे दिखते हैं भीतर से उतने ही ऊँचे और भाव-सम्पन्न हैं। उनकी ऊँचाइयाँ देखनी हो तो उन्हे कविता के बीच पाना होगा। कविता ऊर्ध्वगामी है। उसे साधारण वित्त की यात्रा नही कहा जा

सकता । इस उदारता म सारी धरती समा जाती है । छायावादी कविता अपनी ऊँचाइयो पर पहुँचते ही दिव्य हो जाती है । नागार्जुन की कविता फिर भी पार्थिव बनी रहती है । वह घनघोर लोकधर्मी है । लोक के प्रति उसकी निष्ठा इतनी प्रखर है कि कला और कलागत सौन्दर्य की दुनिया भी कभी कभी पीछे छूट जाती है । हम उसे महान और असाधारण नही कहना चाहते । ये शब्द अब हमारे लोक की योग्यता और प्रामाणिकता से काफी आगे निकल चुके हैं । चुस्त चालाक दुनिया उन्हे गला पचा कर अपने ड्राइग रूम म सजा चुकी है । नागार्जुन इस प्रकार की अभिलाषा से मुक्त हैं । इन्ही अर्थों म वे असाधारण और महान नही हैं । बल्कि नितात साधारण और सामान्य । सच्चे अर्थों मे जनोन्मुख । निम्न मध्यवित्त और वचित-मूखे लोगों के बीच से गुजरती हुई वह जिनकी पीठ थपथपा रही है, वे इसी समाज के हैं किन्तु व्यवस्थाओ के क्रूर शिकजो ने उन्ह रौंद डालने का कुचक्र छेड दिया है । कवि इस कुचक्र को पहचानता है । आर्थिक सरचना वाले चक्रव्यूहो और उनके महारथियो की मशाओ से खूब-खूब वह परिचित है । इसी-लिए इनके बीच वह औघड के रूप म प्रवेश करता है । सामती सस्कृति की अध्यात्म विद्या का निकृष्ट और भयानक स्वरूप औघड म ही मिलता है । सामता की कूट चालें जिस पर असर नही कर पाती । जिसकी आवभगत करके उस अपनी जीवन शैली का अग नही बनाया जा सकता । नागार्जुन ऐसे ही व्यक्ति हैं । जिसके एक हाथ म अभिशाप विष्ठा और मुर्दा सस्कृति की हड्डी है तो दूसरे म सगीत और उल्लास का भावाकूल प्रतीक डमरू है । वे कविता के अवढर-पुरुष हैं । उनका गुस्सा और उनका प्रेम दोनो ही विरल है ।

कविता का संसार—2 प्रतिवद्ध कविता

सामान्य और प्रचलित अर्थों मे जनकवि होना बहुत आसान है। लोगो, पेड-पौधो, ऋतुओ, वनस्पतियो पर लिखते जाइए। होली-दिवाली, दुर्गोत्सव-दशहरे को टाँकते जाइये, जनकवि का खिताब देने वाले मिल जाएँगे। जमीदार की जय बोलिये, सेठ-साहूकार की भी। गद्दीनसीन की भी और कारखानेदार की भी। बडा रसीला कवि धर्म है यह—जहाँ शब्द ही शब्द टपकता रहता है। मजे से चाटते जाइए और जय-जयकार करते रहिए। अगर इतना लम्बा-चौडा शामियाना आपसे तानते न बने तो किसी वामपथी दल की धरोहर बन लीजिए। पार्टी के अखबारो म विरोधी दलो के नेताओ की गलाजतो का पर्दाफाश कीजिये, इतना कि कहते-कहते भाषा एकदम नगी हो जाय, अर्थ चुक जाय। और पार्टी के महथो की शाबाशी पाते हुए कोर्निश बजाइए। जनकवि का कालम लिखिए, बच्चो को दूध-भात खिलाइए। आराम से दिन गुजारिए और तोद या दाढी पर हाथ फेरिए। सारे खतरो से दूर रहकर पालतू खतरनाक शब्द-शेर कहलाइए। जनकवि बनने के लिए ये दवाएँ काफी मुफीद हैं। शार्टकट की इस सभ्यता मे सफलता तय है। सुविधा तय है। अखबारी प्रतिष्ठा तय है। प्रचार तय है। पुरस्कार तय है।

ऐसे भी जनकवि होते हैं जिनको ये लुभावनी चीजें मार नही पाती, पार्टी महथो की थपकियाँ सुला नही सकती, सामती ठाट-बाट रिझा नही पाते, स्वागत-सत्कार, पुरस्कार-पदवियाँ, समारोह दिग्भ्रमित नही कर पाते। जिनका जीवन अपने लोगो के प्रति पूर्णत. समर्पित होता है, जिनका शब्द कभी खरीदा-बेचा नही जा सकता। जो अपने समाज की समस्याओ को लेकर रात-दिन बेचैन रहते है और जिनके सपनो का मतलब गरीब, भूखे-नगे लोगो की खुशहाली हुआ करता है, वह भी जनकवि हैं और मैं ऐसे ही एक 'तरल आवेग सम्पन्न अतिभावुक, हृदयधर्मी' जनकवि के बारे मे आपसे चर्चा करना चाहता हूँ।

कविता जबकि फूहड तुक्काडो और गलेबाजो की महफिल मे ता-ता-थैय्या नाच रही है, उघड रही है, नगी हो रही है, जनकवि के सामने ढेर सारी चुनौतियाँ हैं। एक चुनौती तो उस परम्परा की ओर से है जिसने उस गभीर और पवित्र कविता के सस्कार दिए हैं। यह चुनौती उसे बार-बार अपनी ओर खीचती है। दूसरी ओर वे सहयात्री हैं जो कविता-गोष्ठियो मे नये सामती ठाट-बाट का आलम बना रहे है। सहृदय जनो का 'नागरक-समाज' वाले भावबोध को पुन.स्थापित करने मे लगे हैं। जनता के लिए कविता-गोष्ठियो की कोर्ट-कचहरियो म शब्दो की टीपें तैयार कर रहे हैं और अपना चरित्र चमकाने की तजवीज भिडा रहे हैं। तीसरी ओर वह जनता है जो आजाद होकर भी आजादी का अर्थ और आशय अभी तक नही समझ सकी है। जिसके चारो

और राजनीतिक पण्डे और संस्कृति के नाम पर उछल-कूद, नाच तमाशे हैं या फिर *अध्यात्म के कारखाने से निकलने वाली सरकारी मादक गोलियाँ। तब हमारा जनकवि* क्या करे ? क्या वह उठे और सट्टेबाजो की महफिल मे जाकर नाचने लगे ? या जनता की बिगडी हुई आदतो के आगे गर्दन डाल दे ? जनकवित्व का सच्चा युगधर्म क्या है ? कौन हैं वे लोग जिन्हे अपने देशवासियो के दु ख दर्द सता रहे हैं ? क्या वे वामपंथी लोग है ? क्या वे कांग्रेसी या जनताई राजनेता हैं ? क्या वे दिल्ली मे बैठे हुए हैं ? क्या वे पवनार मे हैं या कदमकुआँ मे ? आखिर कहाँ हैं वे लोग जिनके भरोसे यह कवि अपनी कविता का नक्शा तैयार करे ? सबने ही तो निराश किया है। सब धीरे-धीरे अपनी पोलों में खुल चुके हैं। इसलिए जनता की बात करने वाले इन तथाकथित सेवको को आज हमारा यह कवि खूब-खूब पहचानता है और सेवको के सेवको को भी, जो 'हुकूमत की नर्सरी' बने फूल-फूल रहे हैं। राजनीति प्रधान वातावरण मे राज-बिरादरी की यह पहचान सबसे ज्यादा जरूरी है। इससे जनवादी लेखन के ज्ञान दायरे मे वृद्धि तो होती है, उसे अपने गुरुत्तर दायित्व का बोध भी होता रहता है।

नागार्जुन जैसे लेखक, जिन्हे लेकर साहित्यिक और राजनीतिक विवादो का बाजार अक्सर गर्म रहता है, अपनी प्रतिबद्धता का बयान करते हुए एक कविता मे लिखते हैं--

प्रतिबद्ध हूँ, जी हाँ, प्रतिबद्ध हूँ
बहुजन समाज की अनुपल प्रगति के निमित्त
संकुचित 'स्व' की आपाधापी के निषेधार्थ
अविवेकी भीड की 'भेडिया-धसान' के खिलाफ
अंध-बधिर व्यक्तियो को सही राह बतलाने के लिए
अपने आपको भी 'व्यामोह' से बारबार उबारने की खातिर
प्रतिबद्ध हूँ, जी हाँ, शतधा प्रतिबद्ध हूँ
....

आबद्ध हूँ, जी हाँ, आबद्ध हूँ—
स्वजन-परिजन के प्यार की डोर मे
प्रियजन के पलको की कोर मे
सपनीली रातो के भोर मे
बहुरूपा कल्पना रानी के आलिंगन-पाश मे
तीसरी-चौथी पीढियो के दतुरित शिशु सुलभ हास मे
लाख-लाख मुखडो के तरुण हुलास मे
आबद्ध हूँ, जी हाँ, शतधा आबद्ध हूँ।

इस कविता मे कवि अपने भावुक लगावो और कठिन जिम्मेदारियों का वर्णन साथ-साथ करता है। केवल प्रगति, केवल आँकडे, केवल प्रहार और पक्षधरता एक ऐसे निर्जीव *और संकीर्ण जनवाद को जन्म देते हैं जहाँ देर सबेर 'जन' तो गायब हो जाता है, 'वाद'* ही 'वाद' बचता है। नागार्जुन का जनवाद इतना निखालिस बौद्धिक नही है। वह विचार

मात्र भी नही है। वह हाड-मांस की एक जीती-जागती, उठती-गिरती संस्कृति की गोद से उभरता हुआ दिखाई देता है। अपने उपन्यासो म उन्होने मिथिला के ग्राम-जीवन की एक अत्यत प्रामाणिक तस्वीर पेश करनी चाही है। वहाँ के कुलीन किन्तु दरिद्र ब्राह्मण, भारी भरकम जमीदार-तालुकेदार, कमकर मजदूर, मछुआरे, विधवाएँ, सौराठ का विवाह मेला, गवई सस्कृत पाठशालाएँ, स्थानीय कांग्रेसी नेता, उभरते हुए नवजवान कामरेड, छोटी-मझोली जातियाँ, उनके अपने सुख-दु ख, तीज-त्योहार, गान-नाच सब उनके उपन्यासो मे मिल जायेंगे। इतना ही नही मिथिलाचल की हरियाली, आम लीची के बगीचे, ताल मखाने वाले ताल, किसिम-किसिम की मछलियाँ, चिउडा-दही, छोटे-बडे, पुराने-नये महाभोज क्या नही हैं वहाँ। वे अपनी धरती के रग-रग और रेशे-रेशे को पहचानते हैं। उनके लेखन की रुचिरता और सम्पन्नता का बहुत बडा भाग इसी पहचान पर टिका हुआ है। जनता और वामपथ की बात करने वाले लेखको और राजनेताओ की कमी तो हमारे यहाँ आज भी नही है किन्तु उस जनता को ठीक-ठीक जानने-पहचानने वाले लोग राजनीति और साहित्य मे कितने है ? कितने हैं जो प्रेमचन्द के घीसू-माधव को देख पा रहे हैं। कहाँ हैं वे लोग जो यह समझ पा रहे हैं कि उनकी जनता आज कितने क्रूर षड्यन्त्रकारियो की गिरफ्त मे हैं ? कितने ऐसे लेखक हैं जिनमे उसके लिए तडप और छटपटाहट है और कितने ऐसे शब्दकर्मी हैं जो राजनेताओ की तरह जनता और जनवाद का इस्तेमाल करते हुए सुख-सुविधा-अहकार के चौडे और तग राजमार्गों पर टहल-बूल रहे हैं। 'वाम दिशा' और 'साम्यवादी समय' की सैद्धांतिक बहस मे उलझने वालो की एक पूरी की पूरी जमात हमारे चारो ओर फैली हुई है किंतु साधारण जनता को मूल मुद्दे तक लाने की उसे कोई परवाह नही है। अगर परवाह है भी तो उसकी सक्रिय योजनाएँ इस परवाह का कोई भरोसा नही दिलाती। नागार्जुन न केवल उपन्यासो मे बल्कि कविताओ म जिन चिन्ताओ से परेशान हैं वे हैं बाढ, अकाल, भूख, महामारी। शायद ही कोई उपन्यास ऐसा हो जो इन दृश्यो से अछूता हो। आजादी के इतने बरसो बाद भी जन-समर्पित सेवको की पलटन हमारा यह समाज नही तैयार कर सका है। दु खमोचन और जीवू (जीवनाथ—बाबा बटेसर नाथ) जैसे युवको की हमारे इस पिछडे और समस्याग्रस्त समाज को कितनी जरूरत है, इसे वे युवक मण्डलियाँ क्या समझ पायेंगी जो नव राजकुमारो की कदमबोसी करके धन्य भाग मना रही हैं। नागार्जुन की आँखो म एक हरा भरा सपना है—

> यों ही गुजरेंगे हमेशा नहीं दिन
> बेबसी म, खीझ मे, घुटन म, ऊबो मे
> आयेंगी वापस जरूर हरियालियाँ
> घिसी पिटी झुलसी हुई दूबो मे
> अभी तो करुणामय हमदर्द बादल
> दूर, बहुत दूर, छिपे हैं ऊपर आड म
> ....

होते रहेगे बहरे ये कान जाने कब तक
तामझाम वाले नकली मेघो की दहाड म ।

तामझाम वाली यह नकली क्रान्ति सेना धीरे-धीरे अपनी लपेट म भोले-भाले गांवो को भी लेने लग गई है। न जाने कितने प्रकार के छद्मवेशी क्रान्तिधर हमारे गणतत्र के आकाश म गरज-गुर्रा रहे है और कवि इनके मुखौटे छीनकर बडी चतुराई से इन्हे नगा कर रहा है । 'खिचडी विप्लव', 'क्रान्ति सुगबुगाई है,' 'अगले पचास वर्ष' जैसी कविताएँ वह इसीलिए लिख रहा है जिसमे क्रान्ति के अनेकानेक रूप कीडो की तरह किलबिला रहे हैं—

ऊपर ऊपर मूक क्राति, विचार क्राति, सम्पूर्ण क्राति
कचन क्राति, मचन क्राति, वचन क्राति, किचन क्राति
फल्गु सी प्रवाहित रहेगी भीतर-भीतर तरल मदिर भ्राति

इसलिए लेखक हिन्दुस्तानी राजनेताओ से अब कोई उम्मीद नही रखता । चाहे वे वाम-पथी हो चाहे लोकतान्त्रिक । हां, उसकी आशा का एक हल्का झीना सूत्र नक्सली नव-युवको से जरूर जुडा हुआ है—और वह अपने भावी ससार की रचना इन्ही के आधार पर कर रहा है—

इनकी उर-उष्मा मे अब ये
जेल-सेल सब गल जाएगे
प्रवचितो के कोपानल मे
सौ कुबेर भी जल जायेंगे
....
इनका मुक्ति पर्व कब होगा
कब होगी इनकी दीवाली
चमकेगी इनके ललाट पर
कब ताजे कुकुम की लाली

प्रवचित, हरिजन, गिरिजन-आदिवासी मजदूर और भूखे-नगे लोग जिस दिन अपनी ताकत जान जायेंगे हिन्दुस्तान की धरती पर सच्ची क्रान्ति तो उसी दिन आ सकेगी । कोई जरूरी नही कि यह सघटन सिर्फ पिछडी हुई जातियो का हो और ऊचे वर्णों के ईमानदार, साहसी नवयुवक इसस अलग खडे रहे । यह एक ऐसा समवाय होगा जिसम सारी परिवर्तनकामी शक्तियाँ एक साथ जुटेंगी । जातिया, उपजातियो, धर्मों सम्प्रदायो की रूढ बाधाएँ जब इस सघटना को रोक पाने म नाकामयाब हो जायेंगी तभी यह सच्ची क्रान्ति आ सकेगी ।

हमारा यह कवि उसी की प्रारभिक तैयारियो मे लगा हुआ है । उसकी शब्द-सेना अलग-अलग मोर्चों और मोडो पर अपनी तैयारिया म जुटी हुई है । समाज के पुराने दकियानूस मानदण्डो को तोड गिराने और नयी साहसिक मर्यादाएँ स्थापित करने वाल उसके चरित्र धीरे-धीरे अपने पाठका के दिमाग म घर बना रहे हैं । और पाटक

क्रांति के सपने सजा देना भी जनवादी लेखक के बहुत बड़े दायित्व की पूर्ति कहा जा सकता है किन्तु हमारा यह लेखक कोरे सपनों में विश्वास करके बैठ जाने का कायल नहीं। शब्द और कर्म की सहयात्रा ही किसी सपने को वास्तविकता में बदल सकती है। इसलिए वह किसान आंदोलन में किसानों का नेतृत्व करता हुआ जेल जाता है। आपातकाल का विरोध करते हुए भी उसे यही राह नापनी पड़ती है। सत्ता की खूंखार और हिंसक कारगुजारियों से वह निरंतर जूझ रहा है। चाहे जिस किसी तरह, चाहे जिस किसी शैली में। कविता के रूपों और आकारों की उधेड़ बुन में पड़ना सौंदर्य-वादी कवि की प्रधान समस्या है। जनवादी कवि तो मुख्यतः अपनी मशाओं के प्रति सावधान रहता है। तब भी यह कवि अपने 'फार्म' की एकरूपता को तोड़ता-बदलता रहता है। कभी सीधी सपाट छंद मुक्तता, कभी तुकलय वाली सजी सँवरी शैली, कभी बेखटक भाषण-शैली तो कभी गुरुगम्भीर पद्य रचना सब उसकी इस जययात्रा में शामिल हैं।

आधुनिक जन कवि की असली पहचान उसकी अपनी राजनीतिक और सामाजिक कविताओं से होगी—यह कहने में मुझे कोई संकोच नहीं। जनता के जीवन और उसके भूत-वर्तमान-भविष्य का निर्णय राजनीति कर रही है। अर्थनीति और समाज-नीति कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखत। इसलिए वह कवि समाज और राष्ट्र के प्रति अपने धर्म का निर्वाह क्या कर पायेगा, जो समकालीन राजनीति से आँखें चार नहीं करता। नागार्जुन के काव्य का बहुत बड़ा हिस्सा राजनीतिक कविताओं से अँटा पड़ा है। उनकी प्रारंभिक कविताओं में नेहरू युग, गाँधी युग की पहचान मिलती है तो इधर की कविताओं में इन्दिरा युग,जनता शासन काल, लोकतांत्रिक उथल-पुथल, राजनीतिक हिंसा, भ्रष्टाचार, अंध सत्तावाद तथा राजनीति की जनविरोधी नीतियों का हाल-चाल अंकित हैं। 'खिचड़ी विप्लव देखा हमने' संकलन विगत दस-पन्द्रह बरसों की राजनीतिक कारगुजारियों का ज्वलंत दस्तावेज है। इसमें जयप्रकाश, मोरारजी भाई, चरण सिंह, देवरस और संजय गाँधी जैसे राजकर्मियों के अलावा इंदिरा गाँधी पर ढेरों कविताएँ हैं जो कवि के गुस्से का केन्द्रीय निशाना बन सकी हैं। इन कविताओं को पढ़ते हुए लगता है भारतीय राजनीति में पतन और अमानवीयता का चरम उदाहरण हमारा नेता वर्ग रहा है। जिसे सन् '67 से '77 तक नागार्जुन ने अभूतपूर्व विशेषणों के साथ याद किया है।

आज जब यह पुस्तक लिखी जा रही है जनता फिर से इन्दिरा गाँधी की ओर भाग रही है। नागार्जुन अपने प्रकाशक अशोक अग्रवाल को मजाक में कह रहे हैं—देखो वह फिर दिल्ली की गद्दी पर आ रही है और तुम ये कविताएँ छाप रहे हो—इस बार क्या तुम्हें मेरे साथ ही जेल जाना है। किन्तु नागार्जुन को जो जानते हैं उन्हें पता है अगर ये कविताएँ न भी छापी जायें तब भी उनका यह लेखन रुकेगा नहीं। इन्दिरा गाँधी हो, चाहे राजेश्वर राव, नागार्जुन किसी को माफ करने वाले नहीं। वे खुद तो यह जान ही चुके हैं कि चोर-चोर सभी मौसेरे भाई हैं और अब वे नुक्कड़ पर खड़े होकर यह रहस्य जनता को भी बता रहे हैं—

ओफ्फोह ! जाने कैसे आज
आपस मे वे एक प्राण एक दिल हो गए है
ओफ्फोह ! जाने कैसे वे आज
एक दूसरे का गुह्य अग सूँघ रहे हैं
ओफ्फोह ! जाने कैसे वे आज
परितृप्ति की गहरी साँस ले रहे हैं
चलो, अच्छा है
मैं अलग ही खडा रहूँगा
चौराहे का यह नुक्कड जिंदाबाद।

यही नागार्जुन की नुक्कड कविता है जो लाग-लपेट की भापा की मुलायमियत नही अपनाती। उसकी विशेषता है उघडापन और नाटकीय व्यग्य। तीखी से तीखी मार। नागार्जुन यहाँ कितने कला-विहीन कलाकार हो गए हैं किन्तु कितने विचार-व्याकुल, यह देखते ही बनता है। उनकी अधिकाश कविताएँ देशकाल के इसी क्षोभपूर्ण वातावरण मे जन्म लेती हैं। तभी तो वे कभी अभिशाप लगती हैं, कभी ठेठ गाली, और कभी-कभी हल्के-फुल्के बम जैसा धमाका करती हुई राजनीतिक मचो पर फट पडती है। ऐसे कवि को आसानी से बर्दाश्त कर लेना राजनीतिज्ञो के लिए सभव नही हो पाता और तानाशाही शक्तियो को बार-बार उन्हे कृष्ण-मदिर भेजना पडता है। ऐसा जन कवित्व शौकिया नही होता। वह बार-बार कठिन परीक्षा के मोर्चों पर आ डटता है और बार-बार अपनी जनता के लिए जी-जान से जुट जाता है। सवाल यह है कि अगर नागार्जुन ये कविताएँ न लिखें तो व्यक्तिश. उनका क्या अहित होगा ? क्या इनसे उनका कवित्व पुष्ट और प्रमाणित हो रहा है ? क्या सचमुच ये कविताएँ कल भी जिंदा रहेंगी ? और क्या इन कविताओ से हिन्दी काव्य की कोई श्रीवृद्धि हो रही है ? इसके अनेकानेक उत्तर हमारे इस कवि के पास हैं। वह जानता है कि सारा लिखा हुआ वाङ्मय दीर्घजीवी और शाश्वत नही होता। वह यह भी जानता है कि कवि की प्रत्येक पक्ति या रचना कालातरगामी नही हो सकती। इस शर्त पर बिरली ही कृतियाँ खरी उतर पाती हैं। वह इस मुगालते म भी नही है कि उसकी ये कविताएँ तत्काल ही क्राति और विद्रोह करने वालो की सेना तैयार कर देंगी। किन्तु थोडा-बहुत यह सब भी होगा ही। और वह इन्हें लेकर इतना हीन भी नही है। अगर स्थितियाँ यही रही तो कल भी ये कविताएँ 'अँधेर नगरी चौपट राजा' नाटक की तरह प्रासगिक बनी रहेंगी। 'का सखि साजन ना सखि पुलिस' जैसी पक्तियाँ भारतेन्दु द्वारा लिखी जाकर आज कितनी प्राणवान हैं। अकबर इलाहाबादी के शेर उस वक्त उतने अर्थसम्पन्न नही लगते थे जितने कि वे हमारे लिए आज हो गए हैं। हम यह भी जानते हैं ये रचनाएँ अपने मूल स्वरूप म प्रचारधर्मी हैं और जनता को प्रशिक्षित करने के खयाल से लिखी गई हैं। हर युग मे ऐसी कविताएँ लिखी जाती रही हैं और युग की स्थिति के अनुसार उनके रूप और आकार मे रद्दोबदल भी देखने को मिलता है। नागार्जुन की ये कविताएँ भी एक खास प्रकार के राजनीतिक वातावरण की देन है। अगर ये कविताएँ न लिखी गई होती तो

म इस सवाल का ठीक जवाब भी शायद न दे पाते कि हमारी हिन्दी कविता राजनीति, बौद्धिकता और आम जनता के बीच कौन सा रिश्ता कायम रखना चाहती है।

इन्ही राजनीतिक कविताओं का एक हिस्सा व्यग्य शैली में लिखा गया है जहाँ कवि की शब्द-कारीगरी के अद्भुत नमूने देखने को मिलते है। कहाँ कवि का प्रेम उमडता है और कहाँ उसका गुस्सा यह तो हमे पहले से पता लग जाता है पर उसके व्यग्य के दाँव-पेंच पहले से मालूम नही रहते। जब दुष्ट व्यक्ति चारो खाने चित्त हो जाता है या हमारे सामने उसके सारे कपड़े उतर जाते हैं तब हम कविता के असली मकसद तक पहुँच पाते हैं।

नागार्जुन उघडा व्यग्य भी करते हैं और सजा-सँवरा भी। यह बहुत कुछ उनके आवेग और विषयानुभूति पर निर्भर करता है। उनके राजनीतिक व्यग्य तो अक्सर उघडे ही रहते हैं किन्तु सामाजिक प्रसगो मे यही शैली काफी गुरु गभीर और विडम्बनात्मक पद्धति अख्तियार कर लेती है। 'तो फिर क्या हुआ', 'सौन्दर्य प्रतियोगिता' और 'जयति नखरजनी' जैसी कविताएँ दूसरी कोटि मे आती है तो अगले पचास वर्ष, तकली मेरे साथ रहेगी जैस कविताएँ पहली कोटि मे। कुछेक नमूने द्रष्टव्य हैं—

1 दया उमडी, गुल खिले शर-चाप के
लाइये मैं चरण चूमूँ आपके
किए पूरे सभी सपने बाप के
लाइए मैं चरण चूमूँ आपके

2 राशि राशि किशलय गुच्छित
कुसुमास्तीर्ण प्लास्टिक शर शय्या पर
लेटे रहें युगावतार पितामह भीष्म
प्रवचनरत हृदय परिवर्तनकारी
अगले पचास वर्ष और
अगले पचास वर्ष और
बहती रहे प्रवचन की अनाविल धारा
गुफाओ से निकलें मुनि गण, वरण करें कारा
तरुण रहें सयत
चढे नही क्रोध का पारा
सुनहली लिखावट हो, चमके नारे पर नारा

जनवादी लेखन की यह राष्ट्रधर्मिता ही उस महिमा मडित और मूल्यवान बनाती है। सामाजिक चिंताओ से ग्रस्त और उन्ही के कारण सक्रिय नागार्जुन का यह लेखन दूसरे भाषा रूपा मे भी इतने ही ठाठ और गौरव के साथ सामाजिक परिवर्तन के लिए कृत सकल्प है।

सामाजिक परिवर्तन की इस जमीन पर सभी इकाइयो का पारस्परिक सहयोग जरूरी है, कुछ लोग मर-मर कर कमायें और शेष बैठे-बैठे खाएँ यह एक अशुभ दृश्य होगा। समाज की खुशहाली सारी सामाजिक इकाइयो की मिली-जुली देन है। कवि एक

कविता मे पूछता है—"पैंटन टंक उन्होने तोडे, मँहगाई के टंक कौन तोडेगा ?' एक हिस्सा पूरी मुस्तैदी से सीमाओ की सुरक्षा मे जी-जान से लगा है किन्तु दूसरे हिस्से अपने-अपने स्वार्थों की दुनिया मे कैद हैं। देश की गरीबी, भुखमरी, मँहगाई की फिक्र करने वाले लोग नही हैं। हमारा बुद्धिजीवी समाज भी देश की प्रधान चिन्ताओ के प्रति विमुख है। देश के भविष्य के बदले उसे अपने साहित्यिक भविष्य (कैरियर) की चिंता है—

उनको दुख है
मजरियो को पाला मार गया है
तुम को दुख है
काव्य सकलन दीमक चाट गए हैं
....
वे लोहा पीट रहे हैं
तुम माथा पीट रहे हो

सामाजिक जीवन का यह बिलगाव और बिखराव ही उसे धीरे-धीरे ककाल मे परिणत कर देता है जिसका बयान नागार्जुन की यह मैथिली कविता करती है—

शिशु ककाल
तरुण ककाल
वृद्ध ककाल
ककाल वृद्धाक
ककाल तरुणीक
ककाल ननकिरबीक
फडिच्छ चमडी बला ककाल
पाडुश्याम चमडीवला ककाल
टहलैत-बुलैत ककाल
चलैत-फिरत ककाल
पडल ककाल
ठाढ ककाल
सूतल ककाल
जागल ककाल
सुखाएल थनवला ककाल
चोकड गर्भबला ककाल
मालगाडी बला साइडिंग दिश
लाइन करे दो बगली
भरि-भरि आंजुर, भरि-भरि मुट्ठी
दानामिश्रित धूरा उठवैत कंकाल

क्या कहा जाय इस पर। मैथिली की अद्भुत कविता कहकर इसकी वाहवाही की जाय

या फिर सिर पकड कर बैठ जाय। चारो ओर फैले हुए ककालो के इस लोक मे किसे कहते हैं आजादी, किसे कहते हैं समाजवाद। लोकतत्र का मतलब क्या है ? जनता और उसका स्वाधीनता दिवस कब आएगा ? कब उसके पास घास फूस का एक घर होगा, कब दोनो जून रोटी होगी ? कौन सोचेगा इस बारे मे ? क्या हमेशा यो ही दिल्ली-बबई के नाज नखरे वाले चेहरो पर क्रीम पाउडर की पुताई चलती रहेगी और पीठ पीछे ककालो की मृत्यु यात्रा जारी रहेगी ? कला और सस्कृति कोई मायने नही रखते अगर वे भारी भरकम, मुहावरो से आत्मदीप्त होकर सिर्फ अपनी झूठी जगमगाहट पैदा करते हैं। कोई भी जन समर्पित लेखक ऐसी कलाकारी को कैसे ढोयेगा ? इसलिये वह निकल पडता है उन लोगो का हाल-चाल लेने, उनसे बोलने-बतियाने जो औरो के सामने गूंगे हुए बैठे हैं। साहित्य के द्विज दरवाजे जिनके लिए बद हैं। नागार्जुन साहित्य और उसके बाहर के ऐसे सभी द्विज-दरवाजो के खिलाफ हैं। वे उन्ह लोक चौपालो के प्रति समर्पित करना चाहते हैं। कविता, कलाएँ, राजनीति, धर्म, समाज सेवा सभी को अपना सामती ठाट-बाट छोडकर लोकशैली अपनानी होगी। तब कही जाकर नयी समाज-रचना का कार्य शुरू हो पायेगा। लेखन के धरातल पर यह काम जनकवि नागार्जुन शुरू कर चुके है।

वस्तुत जनकवि के लिए मार्क्सवादी सिद्धातो म आस्था जरूरी नही किन्तु हर हाल म वह जनता और राष्ट्रीय जीवन की उन्नयनकारी शक्तियो का पक्षधर होगा। नागार्जुन की स्थिति वामपथी उन्मुख जनकवि के बीच की है। आवश्यकता पडने पर वे उन जनान्दोलनो के साथ भी खडे हो जाते हैं जो मार्क्सवादियो की दृष्टि म प्रति-क्रियावाद क गर्भ से जन्मे हैं। किन्तु जल्दी ही वे उन सर्वहाराओ की तलाश भी करने लगते हैं जिनके कि वे सतत पक्षधर हैं। कई राजनेताओ के प्रति तीखी आलोचनात्मक कविताएँ लिखते हैं तो उन्ही मे से एक दो की भूरि-भूरि प्रशसा भी करते है। सामती युगो की नैतिकता भी उन्हें कभी कभी अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। यही कारण है कि व्यक्तिगत ईमानदारी और नैतिकता को आज भी महत्व देते हैं। किन्तु जब व राष्ट्रीय और सामाजिक परिवर्तन की चर्चा शुरू करते हैं, मार्क्सवादी जीवन दृष्टि, श्रम और सामूहिक सघष का ही समर्थन करते हैं। इस आस्था के चलते ही उन्हें वामपथी कवि भी कहा जाता है।

कविता-संसार-3
कविता की परंपरागत महफिल मे मेघो की मृदंग

नागार्जुन परम्परागत अर्थों मे विशुद्ध कवि हैं या नही इसका प्रमाण उनका प्रकृति-काव्य है। प्रकृति आदि मानव से लेकर आधुनिक मानव तक उसकी सहयात्री रही है। सौन्दर्य और भावुकता की सबसे पहली शिक्षा उसी ने मनुष्य को दी है। नियम, रग, विधान और उल्लास के साथ-साथ चक्राकार कालगति और सुख-दुख की सबसे सहज और सार्थक अभिव्यजना प्रकृति ही करती है। वह केवल वर्ण्य विषय नही है। कविता को प्रेरणा भी देती है। मनुष्य मे राग और आकर्षण के भाव वही भरती है। वह मनुष्य की सबसे पुरातन किन्तु सबसे जीवत सहचरी है। इस युग का मनुष्य भी उसे भूल नही पाया है। भले ही वैज्ञानिक सभ्यता और महानगरीय जीवन शैली ने आज के आदमी का प्रकृति सुख छीन-सा लिया हो—तब भी वह इस आदमी के साथ भीड भरी आबादियो के बीच पार्क, उद्यान, हरी दूबो के कृत्रिम मैदान, गमले म उगे हुए फूल-पौधो के रूप म अब भी लगी हुई है। आज का थका-हारा, कुठित और क्षुब्ध मन भी प्रकृति के इस वातावरण को पाकर तनावहीन और चिन्ता शिथिल हो जाता है। जीवन मे कृत्रिमता जितनी बढ रही है, आदमी की भीतरी दुनिया प्रकृति के उन्मुक्त और खुले वातावरण के प्रति उतनी ही लालायित हो उठी है क्योकि प्रकृति सहज और नैसर्गिक है। आत्म-निष्ठ किन्तु आनन्द-सचारी है। स्वात सुखाय है तब भी लोक सुख के स्रोत का विलक्षण रहस्य छिपाये हुए है। मनुष्य और प्रकृति दोनो एक दूसरे के पूरक हैं। सस्कृति की आदिम बेला के बाल सखा है। पण्डित नागार्जुन इस सूक्ष्म तथ्य से परिचित ही नही है बल्कि इसके घोषित प्रस्तावक एव समर्थक भी हैं। 'मेरी भी आभा है इसम' कविता मे वे लिखते हैं—

> भीनी भीनी खुशबू वाले
> रग बिरगे
> यह जो इतने फूल खिले हैं
> कल इनको मेरे प्राणो ने नहलाया था
> कल इनको मेरे सपनो ने सहलाया था
> पकी सुनहली फसलो स जो
> अबकी यह खलिहान भर गया
> मेरी रग-रग के शोणित की बूँदें इसमे मुस्काती है

प्रकृति के सदर्भ म यह अनुभव अकेले इसी कवि का है—ऐसा नही। समस्त आधुनिक कवि इस अनुभव-बिरादरी मे शामिल है। पत तो निर्विवाद रूप से प्रकृति को अपनी माँ

और बाल-सहचरी मानते हैं। अज्ञेय की असाध्य वीणा सिद्ध हो तब होती है जब साधक प्रकृति के व्यापक लोक मे अपने को लीन कर देता है—नीरव एकाकार का यह प्रथम उद्धृत है—

"ओ विशाल तरु !
शत-सहस्र पल्लवन-पतझरो ने जिसका नित [illegible]
कितनी बरसातो कितने खद्योतो ने आरती [illegible]
दिन भौंरे कर गये गुंजरित,
रातो मे झिल्ली ने
अनथक मगल-गान सुनाये,
साँझ-सवेरे अनगिन
अनचीन्हे खग-कुल की मोद-भरी [illegible]
डाली-डाली को कँपा गयी—
ओ दीर्घ काय !
ओ पूरे झारखण्ड के अग्रज,
तात, सखा, गुरु, आश्रय
त्राता महच्छाय,
ओ व्याकुल मुखरित वन-ध्वनियो के
वृन्दगान के मूर्त्त रूप,
मैं तुझे सुनूँ
देखूँ. ध्याऊँ

आधुनिक कवि प्रकृति को न तो विशिष्ट मानता है न अविशिष्ट। वह एक समानांतर दुनिया है। बल्कि हमारी आधी दुनिया है। उसके बिना हम अधूरे हैं। अपग एव अपूर्ण हैं। वह हमे पूर्णता देती है—इसे यह कवि भी जानता है। अन्यथा यह हुवास व्यक्त करने की जरूरत नही थी—

अब के इस मौसम मे
कोयल आज बोली है
पहली बार।
टूसो को उमगे कई दिन हो गए
टेसू को सुलगे कई दिन हो गए
अलसी को फूले कई दिन हो गए
बौरो को महके कई दिन हो गए

इतने अन्तराल मे पछुआ चलने लगी, केले के पात दरक गये, सूरज-किरणें तेजाब की फुहार बन गईं, कालियो ने मुंह बा दिया। कितना कुछ नही घट गया इस बीच और यह कलमुँही चुप की चुप रही। आखिरकार जब इस अन्याय से जी भर उठा तो 'जोरो से कूक उठी' इस मौसम मे। प्रकृति के यहाँ भी उतार चढाव है और उनका प्रत्युत्तर भी। 'कोयल' यही प्रत्युत्तर है। वह एक अनवरत प्रतीक्षा है। वसत उसके बिना वसत नही। विद्यापति उस द्विज पण्डित' की उपाधि देते हैं। नागार्जुन स्नेह गदगद होकर 'कलमुँही' कह डालते है। प्रेमातिरेक म गाली भी मधुर और सार्थक हो उठती है जिसे गीत गोविन्द क रचयिता ने बहुत पले ईजाद कर लिया था। कलमुँही' म जो आत्मीयता और प्रेम प्रदर्शन है वह कविता की चौहद्दियो का अतिक्रमण कर जाता है। नागार्जुन की यह आत्मीयता उन ग्रामीण अचलो की देन हैं जहाँ कवि के सस्कारो की रचना हुई है। 'गगा मइया' 'काली माई' जैसे सबोधन इसी सस्कार की बदौलत हैं। ग्रामाचलो की दुनिया म आज भी प्रकृति मानवीय गुणो से सम्पन्न है। आज भी वह दुनिया गाँव के लिए सज्ञान और सचेत है। प्रकृति और आदमी का भेद तो शहरो का फैशन है। 'नीम की दो टहनियाँ' सीखचो क पार झाँकती हैं और शहर की उस मशीनी दुनिया की थकान और श्रम का जायजा लेती है जो रात भर जगकर खटने के बाद अब गाढी नीद म बखबर सो गयी है। उधर मुँह बाए पडे हैं टाइपो के मलिन-धूसर केस, पर, इधर तो झाँकती हैं दो सलोनी टहनियाँ सीखचो के पार।' नयी सभ्यता की थकान और मलिनता के ऊपर प्रकृति का यह ताजा उल्लास समकालीन आदमी के लिए राहत का गहरा इशारा है।

कवि नागार्जुन प्रकृति को सहज और स्वाभाविक रूप मे ही देखते हैं और उससे ताजा उल्लास प्राप्त करने की ताक म रहते है। कब मौका मिले और कब यह कवि इस अभियान पर निकल पडे—कहा नही जा सकता। सावन, भादो, वसत, चाँदनी रात, शिशिर शरद—कोई ठिकाना नही कौन इसको मोह ले और यह कवि मयूर नृत्य करने लग जाय—

धिन धिन धा धमक धमक
मेघ बजे
दामिनि यह गई दमक
मेघ बजे
दादुर का कंठ खुला
मेघ बजे
धरती का हृदय खुला
मेघ बजे

ठहरी और सोच में डूबी हुई प्रकृति-छवियाँ इस कवि को रास नहीं आतीं, न ही यह कवि अकेली भव्यता और बीहड़ वन-प्रान्तरता का ही प्रेमी है। मनुष्य के सम्पर्क में, उसकी प्रत्येक क्रियाशीलता में जो भागीदारी निभाती है वही नागार्जुन की प्रकृति है। मनुष्य प्रकृति के अभिनन्दन के लिए यहाँ आतुर है और प्रकृति अपने सारे वैभव के साथ उसके प्रति उन्मुख और उत्कंठित —

चौक्स खेतिहरों ने पाए ऋद्धि-सिद्धि के आकुल चुम्बन
शरद-पूर्णिमा धन्य हुई जन-लक्ष्मी का करके अभिनन्दन
वसुधा की फैली बाँहों को सुलभ हुआ सागर आलिंगन
आत रात है वे, लगाम लहरों का मछुआ में गठबन्धन

यह एक अभिन्न दुनिया है। जिसमें सौन्दर्यवाचकता के साथ-साथ कर्मवाचकता है। प्रकृति के क्षेत्र में प्रवेश करते हुए कवि अकेला नहीं है, जनलक्ष्मी और जनापेक्षा और लोकभिलाषा उसके साथ है।

नागार्जुन इसीलिए वसंत से कहीं अधिक 'वर्षा' के प्रेमी हैं। विद्यापति और उनकी पीढ़ी के लोग 'वसन्त' को ऋतुराज कहते नहीं थकते—

माइ हे आज दिवस पुनमत
करिए चुमाओन राय बसंत

यहाँ बसंत राय (राजा) है। नागार्जुन इस धारणा को परिवर्तित करके पावस को 'ऋतुवर' कह रहे हैं। तर्क और उपयोगिता—दोनों ही दृष्टियों से वे ही सही हैं। अब तक कविता सिर्फ सुन्दरता और काम पर विचार करती रही है, किन्तु आज वह अपनी मान्यताओं और धारणाओं को बौद्धिक आधार भी देना चाहती है। निराला जैसे कवि को आलोचकों ने 'बादलों का कवि' कहना चाहा है। रवीन्द्रनाथ तो नदियों के कवि के रूप में जाने ही जाते हैं। नागार्जुन के यहाँ वर्षा की प्रधानता है। वसंत यहाँ दूसरे नम्बर पर है।

आधुनिक कवि की कविता जनता की आवश्यकताओं और रुचियों के सन्दर्भ में अपना स्वरूप ग्रहण कर रही है। अब वह सामन्तों के दरबारों से बहुत दूर जीवन के खुले और फूलते-फलते सिवानों में आ खड़ी हुई है। इसलिए वह परम्परा के इस दाय को नये सिरे से व्यवस्थित करने की कोशिश कर रही है। वर्षा और बसंत के स्थान-विपर्यय का कारण यही कोशिश है।

वर्षा का वर्णन करते हुए नागार्जुन हजार-हजार उल्लसित चेष्टाओ म मगन हो जाते हैं- कदब के मोहक झूले, शिशु धन कुरग का चौकडी भरकर आपस मे गुँथ जाना, पुरवा का सिहकना पक का हरि चदन हो उठना, पातो का धुलना, ताजा हो जाना—सिर्फ पावस के चलते सभव हो पाता है। पावस की महिमा को निचोड रूप मे प्रस्तुत करते हुए नागार्जुन पूरा का पूरा एक गीत ही रच डालते हैं—

लोचन अजन, मानस रजन
पावस, तुम्हे प्रणाम
ताप तप्त वसुधा दुख भजन
पावस, तुम्हे प्रणाम
ऋतुओ के प्रतिपालक ऋतुवर
पावस, तुम्ह प्रणाम
अतुल अमित अकुरित बीजधर
पावस, तुम्ह प्रणाम
नह-छोह की गीली मूरत
पावस, तुम्हे प्रणाम
अग जग फैली नीली सूरत
पावस, तुम्हे प्रणाम।

अगर नागार्जुन को हिन्दी-आलोचक मार्क्सवादी न कहता तो मैं इस सुविधा म था कि उन्ह पावस को अग जग फैली नीली सूरत कहने के लिए साधुवाद दे डालता। पर यह जानता हूँ नागार्जुन उस जनता के कवि हैं जिसे आलोचको की इस पण्डिताई का पता नही है। जब नागार्जुन पावस को अग जग फैली नीली सूरत के रूप म पेश करते हैं तब मुझे वह सस्कार झाकता हुआ दिखाई देता है जिसने अपने प्रधान अवतारो क रग को भी नीले वण की थाती सौप रखी है। पावस' बीजधर है। ठीक उसी प्रकार जैसे गीता म कृष्ण अपने को सम्पूर्ण सृष्टि के सदर्भ म बीज स्वरूप प्रकट करते हैं। वसत तो पावस का बेटा है। नागार्जुन इसी पितृलोक के कवि हैं। यद्यपि पुत्र की अवमानना करते वे कही भी दिखाई नही देते।

मैंने पहल ही कहा है कि नागार्जुन निराला को अपना काव्यगुरु मानते हैं। इसलिए वे ऋतुगीत रचन है। विद्यापति, सूरदास, निराला और नागार्जुन ऋतुओ स न केवल मोहित होते हैं बल्कि उन्हे निसर्ग-सगीत का प्रतीक मानते हैं। यह वही निसर्ग-सगीत है जो असाध्य वीणा म किरीटी तरु' स फूटता है और शब्दो के तल्प पर' (भवानी प्रसाद मिश्र) मे रेवा के कल कल रव म। शका हो सकती है—एक यथार्थवादी कवि क्या इतना भावुक और सस्कारी भी हो सकता है? क्या उसकी यह छवि उसके रवैये के प्रति सदेह पैदा नही करती? आलोचना के रूढ़िवादी और सकीर्ण दायरो म नि सन्देह यह सन्देह मे डालने वाली करनी है कि तु जो सच्चे आलोचक हैं उन्हे पता है कि प्रगतिशीलता च द नारो और विषयो तक सीमित नही होती। प्रगतिशीलता न तो विषय है न शैली। वह एक सपूर्ण जीवन दृष्टि है जो विषय और शैली मे अन्तर्निहित

आभा के रूप में फूटती है। जिस तरह कोई कवि न तो पूरी तरह क्लासिकल या रोमाण्टिक होता है, उसी तरह वह न तो अप्रगतिशील या प्रगतिवादी होता है। सबसे जरूरी अपेक्षा उसके कवि होने को लेकर है।

कवि होने पर ही दृष्टि का प्रश्न उठता है। और कवि होना इस बात पर निर्भर करता है कि व्यक्ति-विशेष की भावना की गति और क्रिया का स्वरूप क्या है? उसकी दुनिया एक कवि के रूप में कितनी बड़ी या छोटी है। कितने अनुभव-स्तर और संवेदन-क्षण उसकी रचना में समा सके हैं। नागार्जुन इस दृष्टि से एक विशिष्ट कवि हैं। नेह-छोभ की एक पूरी दुनिया उनकी कविताओं में विद्यमान है। उनकी भावना का आसमान बहुत बड़ा है और उसकी यात्रा काफी लम्बी एवं विविधता से भरपूर। गर्मी-सर्दी, धूप-छाँह, आग-पानी, सुख-दुख सब हैं यहाँ। और 'आप्त' रूप में नहीं, प्रत्यक्षानुभूति से अर्जित। उनकी प्रकृति भी उनकी देखी-सुनी और जियी हुई है। किसान के बेटे हैं वे। किसानी जिंदगी जीते हैं। धरती की धड़कन सुनने की सुविधा में वे हर वक्त हैं। इसलिए झींगुरों के फटे कंठों, और मेढ़कों के टर्राने का जयोल्लास खूब जानते हैं। वे ही अकेले कवि हैं जिनके यहाँ मेढकों के चिढ़ाने पर कोयल रात-रात भर रोती है। बड़ी आयी थी गाने वाली। अपने को बहुत नहीं सब कुछ समझने वाली। नागार्जुन इस बहुत कुछ को छाँटते चलते हैं। उनके यहाँ सब की हैसियत बराबर है। कोई किसी से बड़ा नहीं—न ही छोटा है। यही उनकी कविता का साम्यवाद है। और यही है उनकी परिवार दृष्टि। सारी दुनिया इसी रूप में एक संयुक्त परिवार है। और फिर भी अगर कोई अपने को चतुराई पूर्वक बड़ा बनाना चाहता है तो नागार्जुन उसके विरुद्ध पूरी सेना ही तैनात कर देते हैं—झींगुरों और मेढ़कों की सेना की तरह। यह प्रकृति किसी की श्रेष्ठता और महानता के अहंकार को बर्दाश्त नहीं करती। समाज में सब बराबर हैं। सबके सहयोग से ही यह दुनिया चल पाती है। सहयोग और सहवास की दुनिया ही उनकी दुनिया है। मुक्तिबोध जिस तरह अकेली मुक्ति को न तो संभव मानते हैं न ही काम्य ही, उसी तरह नागार्जुन भी उल्लास को सार्वजनिक और सामाजिक मानते हैं। अकेले सुख का कोई मतलब होता ही नहीं। इसीलिए जी भर गन्ना चूसने और तालमखाना खाने का मजा उन्हें तब मिल पाता है जब वे अपनी गँवई पगडण्डी की चन्दनवर्णी धूल अपने माथे लगा पाते हैं। गाँव और उसकी पगडण्डी के प्रति कवि की यह भावना ही व्यापक प्रेम की दुनिया में बदल जाती है। प्रेम कोई आकाश से टपककर आने वाली चीज नहीं। इस धरती का भाव है जो हमें अपने आस-पास की चीजों से मिलता है। इसी सहज और सामान्य प्रेम के कवि हैं नागार्जुन। यही उनका वासना लोक है। भले ही यह प्रकृति जगत वास्तविक और यथार्थ हो पर कवि इसे भावनामय बना रहा है।

नागार्जुन की प्रकृति इसी रूप में आकर्षणमयी और द्वन्द्वातीत है। यही वह भावभूमि है जहाँ यह कवि तन्मय और तल्लीन है। यहाँ वह राग के समुद्र में उतर गया है जो चारों ओर से लहरा रहा है—जिसे न छंद-अछंद की सुध है न यथार्थ और आदर्श की फिक्र। पर यह भी सही है कि चीजें अपने-आप ठीक-ठीक ढल रही हैं और आकार-रंग और कर्म ग्रहण कर रही हैं। कालिदास की प्रकृति की तरह

वह मनुष्य की जीवन-संगिनी है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कालिदास की प्रकृति पर विचार करते हुए लिखा है कि अगर उसे हटा दिया जाए तो मनुष्य का भाव-जगत मरु कान्तार के समान सूना और नीरस हो उठेगा। नागार्जुन की कविता के संदर्भ में भी आचार्य द्विवेदी की यह उक्ति इस उद्धरण के साथ हजार बार सच है—

कर गई चाक
तिमिर का सीना
जोत की फांक
यह तुम थी
....
झुका रहा डालें फैलाकर
कगार पर खड़ा कोढ़ी गूलर
ऊपर चढ़ आई भादों की तलइया
जुड़ा गया बौने की छाल का रेशा-रेशा
यह तुम थीं!

प्रकृति के इस वासना-लोक में पहुँचते ही नागार्जुन की प्रज्ञा जाग उठती है और उनकी आलोचनात्मक दृष्टि और व्यंग्य-वक्रता के बदले में हम एक आवेग समृद्ध कवि के मृदु-गंभीर स्वर सुनाई पड़ने लगते हैं।

सौन्दर्यबोध बनाम मूल्यबोध

कविता ही नहीं जीवन मे भी सुन्दरता के मानदण्ड बदलते रहे हैं। विभिन्न समाजो की रुचियो और सस्कारो मे यह भेद आज भी देखा जा सकता है। रीतिकालीन सौन्दर्य बोध जिस सामाजिक जीवन से नि सृत था वह द्विवेदी युग और छायावाद युग मे बदल चुका था। अतः सौन्दर्य की धारणा भी परिवर्तनशील और नश्वर है। बहुत कुछ हमारे नैतिक, धार्मिक, सामाजिक और व्यक्तिवादी निष्कर्षों और धारणाओं के आधार पर हमारे आनद के स्रोत और सन्दर्भ प्राय. बदलते हुए देखे गए हैं। आस्था और सौन्दर्य मे डॉ० रामविलास शर्मा का यह कथन उल्लेखनीय है—"छायावादी कवियों ने कविता की भाषा के रूप मे खडी बोली को प्रतिष्ठित किया। काव्य से चमत्कारवादी नायिका भेदवादी परम्परा को निर्मूल किया। प्रकृति, नारी, सामाजिक परिवर्तन आदि विषयोपर नये दृष्टिकोण से लिखा, भारत भारती और जयद्रथवध की तुलना मे उन्होंने हमारा सौन्दर्य बोध परिष्कृत किया, नई छद योजना, नए मूर्तिविधान से हिन्दी कविता को समृद्ध किया। छायावाद के उत्तरकाल मे स्वय छायावादी कवि अपनी भावधारा से विलग होकर यथार्थवाद की नयी भूमि की ओर बढे।" निराला के उपन्यास और उत्तर-कालीन कविताएँ, प्रसाद का तितली उपन्यास, पत की ग्राम्या आदि कृतियाँ यथार्थवाद की जययात्रा के प्रस्थान के रूप मे देखी जा सकती सकती हैं। कल्पना के उन्मुक्त आकाश मे विचरण करने वालो ने भी जमीन पर आने की पहल की। स्वभावत' सारा रचनाधर्म लोकपरक और समाजोन्मुख हुआ। सौन्दर्य की कोमल और मधुर, रहस्य और दर्शन से परिपूर्ण तानें क्रमश मद पडने लगीं और कवियो-लेखको को एक नया दायित्व बोध भिन्न ढग से आकृष्ट करने लगा। विचारो की बहुलता के साथ-साथ उप-योगी और परिवर्तनकारी काव्य सृष्टि का आग्रह बढा। सम्पूर्ण वातावरण मे एक नये प्रकार की हलचल प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के रूप मे दिखाई पडी। पहले मे समाज-वादी यथार्थवाद की प्रेरणा काम कर रही थी तो दूसरे मे व्यक्तिवादी यथार्थ के आग्रह अत्यन्त प्रबल थे। आगे चलकर यही व्यक्तिवाद आधुनिकतावाद का जामा पहनकर सामने आया और धीरे-धीरे एक नये सम्प्रदाय की शक्ल ग्रहण करने लगा। यथार्थवाद की यह तोड-मरोड कुछ-कुछ दूसरे खेमे मे भी हुई पर पहले से ही स्पष्ट विचारधारा और मतवाद की जमीन पर खड़े होने के कारण वह अतिवादो से निरन्तर बचता रहा। नागार्जुन का काव्य इस दृष्टि से विशेष महत्त्व का है।

वे हमारे उन लेखको म से हैं जिनका मन स्थायी तौर पर वर्तमान समाज-व्यवस्था को लेकर विक्षुब्ध रहता है। आजादी के बाद सारी राजनीतिक पार्टियो का इलेक्शनमुखी हो जाना, पूँजीपतियो की निरतर सम्प्रदाय वृद्धि, बुद्धिजीवियो का स्वार्थ बद्ध विलगाव तथा निरक्षर और निरन्न जनता का विवश और दुखद जीवन उनकी चिता

के प्रधान विषय हैं। कवि और लेखक होने के नाते नही, एक सामान्य नागरिक की हैसियत से भी वे निरन्तर इस चिंता को व्यक्त करते रहे हैं और कोशिशपूर्वक उन स्तम्भो को ढहाने मे लगे रहे हैं जिनके कारण परिवर्तन की गति रुक-सी गई है।

परिवर्तन की माँग तो छायावादियो ने भी की है, पर उनकी यह माँग सामाजिक कम और दार्शनिक अधिक है। प्रेम और करुणा के मूल्यो के आधार पर समाज मे एक व्यापक और उदार मनुष्यता का कोमल सपना देखा गया है। नागार्जुन और उनके साथियो का आग्रह शुद्ध सामाजिक धरातल पर है। इसलिए कोमल और मधुर के बदले उनके तेवर मे एक बेचैन आक्रामकता दिखाई देती है। वामपथ की निकटता के कारण इन कवियो की परिवर्तन सम्बन्धी माँग अधिक ठोस और सुस्पष्ट है। छायावादी लेखन व्यापक और उदार, उन्नत और भव्य की छायाओ के वशीभूत है। इसीलिए उसका ध्यान प्राय उन्ही चरित्रो की ओर गया है जो अपनी उपस्थिति से एक दिव्य वातावरण का निर्माण कर सकें। छायावादी क्राति भी इसी दिव्यता से चलकर आती है, तब भी उसकी सदिच्छा को नकारा नही जा सकता। प्रगतिवादी कविता इसके बजाय प्रहार और मोर्चेबदी की राह अपनाती है।

प्रहार और मोर्चे बदी तो वे अनास्थावादी भी करते हैं जिन्हें हम वामपथी खेमे से बाहर मानते हैं किन्तु उनकी दृष्टि और रवैये मे एक अविचरित व्यग्रता और विश्लेषण-हीनता है। जिस जमीन पर वे खडे है वह भी साफ नही है। बजाय इसके प्रगतिवादी कवि को अपने स्टैण्ड और उसके पीछे काम करने वाले तर्क की जानकारी है। इसलिए प्रगतिवादी कविता मे अनावश्यक आवेग और छटपटाहट के बदले एक सतुलित आवेग-मयता और धीर सम्पन्न सृजनधर्मिता दिखाई देती है। शमशेर, मुक्तिबोध, केदार और त्रिलोचन के काव्य म आवेग का जो स्वरूप दिखाई देता है वह एक सस्कारी विचार सरणि और तर्काश्रित व्यवस्था की माँग के सन्दर्भ मे उत्पन्न होने के कारण मर्यादित और परिनिष्ठित है। नागार्जुन अवश्य ही कही-कही इसका अतिक्रमण करते देखे जाते हैं। पर यह रहस्य उनसे छिपा हो—सो भी नही। अपनी एक कविता मे उन्होने इस स्थिति को स्वीकार किया है कि अब तो वे ओघड नागार्जुन है और इसलिए उन्हें खुनकने, कुढने, गाली देने तथा चिढ़ने-चिढाने की पूरी छूट मिल गई है।

दरअसल नागार्जुन का मूल स्वाभाव रागधर्मी है। कोई भी वाद या विचार तब तक उनके काव्य का अग नही बन सकता जब तक कि वे रागात्मक धरातल पर उससे एकाकार न हो जायें। राग की यह प्रखरता ही उनके काव्य को अधिक रुचिकर और प्रभावकारी बनाती है। छायावादियो मे राग की यह प्रखरता सबसे अधिक निराला मे देखी जा सकती है। बाद के नये कवियो ने इसका इस्तेमाल प्रतीको और बिम्बो के सन्दर्भ म किया है। नागार्जुन की रागमयता की तीव्रता व्यग्य काव्य के सन्दर्भ मे सर्वाधिक है, यद्यपि वे प्रकृति और श्रमिक जनता वाले काव्य के सन्दर्भ मे उतने ही समृद्ध दिखाई देते हैं—सवाल यह है कि छायावादी आकुलता और प्रगतिवादी भावावेग में अन्तर क्या है ? क्या दोनो ही समान स्तरीय हैं ? कहना होगा कि छायावादी आवेगो मे सृजनधर्मी व्यक्तित्व का सतरण है तो प्रगतिवादी आवेगो में

आधारभूत वैचारिक अंकुश काम कर रहे है। यही कारण है कि समकालीनता के लिहाज से प्रगतिवादी आवेग अधिक स्वस्थ और स्वीकार्य लग रहा है। छायावादी आवेगों में

की अभिव्यक्ति करता है। स्पष्ट ही दोनों की सौन्दर्य-दृष्टि का बारीक भेद इसमें काम कर रहा है। छायावाद परिष्कृत, पवित्र, माधुर्य युक्त दृष्टि को अंगीकार करता है। कह सकते हैं छायावादी सौन्दर्य अधिक सास्कृतिक है जबकि प्रगतिवादी सौन्दर्य में अनगढ़ता, लोक सामान्यता और यथार्थोन्मुखता है। 'खुरदुरे पैर' कविता की प्रारम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

> खुब गये
> दूधिया निगाहों में
> फटी बिवाइयों वाले खुरदरे पैर
> धँस गए
> कुसुम-कोमल मन में
> गुट्ठल घट्ठों वाले कुलिस-कठोर पैर"

दूधिया निगाहों के साथ 'खुब' (खुभना) क्रिया का जो प्रयोग किया गया है, कवि के सारे व्यवहार को साफ कर देता है। 'दूधिया निगाहों' की बिरादरी में 'खुरदुरे पैरों' का खुभना केवल नागार्जुन ही देख और सह सकते हैं। इसीलिए एक बार 'पुलकित है अंग-अंग मालिश फिजूल है' जैसी पंक्ति को गुनगुनाते हुए जब नागार्जुन ने शमशेर से पूछा कि, 'बताओ यह पंक्ति किसकी है ?' तब शमशेर ने पूरे विश्वास और निश्चय के साथ कहा था—'तुम्हारे अलावा किसी दूसरे की नहीं हो सकती। ऐसी शब्द-योजना कोई दूसरा करता ही नहीं।' नागार्जुन के सौन्दर्य बोध को समझने के लिए यह उदाहरण एक परम दृष्टांत है। क्लासिक और रोमांटिक सौन्दर्य परम्परा के बीच वे नागार्जुनी सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं जहाँ न तो आभिजात्य की कुछ चल पाती है न ही काल्पनिक आदर्शवाद ठहर पाता है। जरूरत पड़ने पर वे दोनों का ही सर्वोत्तम अपने साथ घसीट लाते हैं। 'बादल को घिरते देखा है', 'कालिदास', 'सिंदूर तिलकित भाल' और ढेर सारे ऋतु-गीत उनके परम्परा-विजय के प्रमाण हैं। परम्परा का सार्थक और जीवंत उपयोग करने में वे अतुलनीय हैं। क्या मिथ, क्या भाषा, क्या छंद और लय, वे सर्वत्र बेरोकटोक, निःसंकोच और निर्भय होकर जाते हैं और अधिकारी उत्तराधिकारी की भाँति उस जड़ और निष्प्राण को काट कर अलग कर देने के बाद शेष को अपने काव्य-मार्ग पर धड़ल्ले से ले आते हैं। ऐसा सौंदर्य-समारोह ही नागार्जुन की पहचान है। पर कभी-कभी वे 'यह तुम थीं' जैसी कविताएँ भी लिखते हैं जिसमें प्रगतिवादी रोमांस की झलक देखी जा सकती है।

वस्तुत. नागार्जुन की जीवन दृष्टि क्लासिक और रोमाण्टिक के बीच बनती और सवरती है। जीवन के स्वस्थ और गतिशील पक्ष उसे युगीन और अर्थगर्भ बनाने में मदद करते हैं। इसलिए उसे हम परिवर्तनकारी यथार्थपरक जीवंत दृष्टि से सम्पन्न

परकता उनकी तटस्थता म सुराग लगाने लगती हैं। 'तो फिर क्या हुआ ?' 'सौन्दर्य प्रतियोगिता' या 'जयति नखरजनी' जैसी सधी हुई व्यग्य कविताएँ न तो दुबारा नागार्जुन लिख सकते हैं न हिन्दी का कोई दूसरा कवि ही ऐसा कर सका है। प्रेत का बयान' एक राजनीतिक व्यग्य काव्य है। यहाँ वे सकेतगर्भी मुहावरो से खिसककर सामान्य कथन तक भी आ गए हैं, जिससे कविता म उभरता हुआ नाटकीय व्यग्य कही-कही हल्का भी हो गया है। कवि अगर पूरी रचना का ताना बाना मिथकीय शैली मे ही बुनता तो कविता का रूप कुछ और होता। या फिर यह शैली ही न अपनाता और सारी बात मत्र शैली वाली कविता म रखता जहाँ परपरागत पाठ शैली के साथ साथ एक विद्रूप अदाज की जुगत भिडाई गई है। परपरा के साथ नवीनता का यह सार्थक किन्तु अद्भुत अदाज सिर्फ नागार्जुन ही खोज सके है। समूचे आधुनिक काव्य मे इस प्रकार की सार्थक दुस्साहसिकता अन्य किसी भी समकालीन म नही है। इसी विलक्षण प्रयोगधर्मिता का इशारा उस बातचीत म किया गया है जो शमशेर और नागार्जुन के बीच घटित हुई है। विक्षोभ और प्रेम नागार्जुन के काव्य के दो छोर है। प्रेम के धरातल पर व प्रकृति और जनजीवन को विशिष्ट छवियाँ उकेरते हैं तो विक्षोभ की भूमिका मे आते ही उनके शब्द हथगोले बन जाते हैं। विरोधी ताकतो को ढेर कर देने वाले ये शब्द ही सघर्षशील सर्वहारा समाज के कारगर हथियार हैं।

क्या नागार्जुन एक वामपथी कवि हैं अथवा उनका सारा रवैया जनवादी है ? इस सदर्भ मे दोनो ही व्याख्याओ की समझ और विवेचना का उल्लेख भी अप्रासगिक न होगा। डॉ० चन्द्रभूषण तिवारी के प्रश्न के उत्तर मे डॉ० रामविलास शर्मा और कलम सम्पादक चन्द्रबली सिंह के उत्तर इस प्रसग म विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। दोनो ही मार्क्सवाद और जनवाद मे स्पष्ट फर्क मानत है। उनकी व्याख्या के अनुसार 'हर मार्क्सवादी लेखक जनवादी लेखक है, किन्तु हर *जनवादी लेखक मार्क्सवादी लेखक नही है।* और यह स्थिति हमारे देश की परिस्थितियो द्वारा निर्धारित होती रहती है—'। राष्ट्रीय पूँजीपतियो की वे भूमिकाएँ जहाँ वे किसानो या मजदूरो का सहयोग लेकर उपनिवेशवाद या साम्राज्यवाद से लडते हैं वहाँ यह रवैया जनवादी कहा जायगा किन्तु वे ही क्रातिकारी स्थितियो की परिपक्वता के खिलाफ जब किसानो और मजदूरा के सामूहिक सघर्ष को दबाने का प्रयत्न करते है तब उनकी भूमिका जनविरोधी कही जायगी। इसीलिए जनवाद अपेक्षाकृत व्यापक दायरा है, जिसमे वे सभी लोग आ जाते हैं, सभी वर्ग आ जाते है जो कि आज की वतमान समाज व्यवस्था है—शोषण की, जिसम कि वे सभी शोषित हैं उसके बदलन म जिनका हित है × × × लकिन मजदूर और किसान, जो सबसे ज्यादा इस समाज मे शोषित वर्ग है, वे एक नय ढग की सामाजिक व्यवस्था अपनाना चाहते हैं और जो वे लडते हैं जनवाद की लड़ाई × × × उस जनवाद का नेतृत्व मजदूर और किसान सयुक्त रूप से करेंगे। × × × इस तरह जनवाद एक व्यापक जन समूह का स्टैण्डप्वाइट है, दृष्टिकोण है—जिसम कि राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग से लेकर मजदूर किसान सब आते हैं, उनके हितो स जुडा हुआ वह दृष्टिकोण है, और वामपथी दृष्टिकोण जो है, वह मजदूरो और किसानो के हितो से जुडा हुआ दृष्टिकोण है।' इसी तरह साम्राज्यवादी, यथास्थिति

वादी, सामंती, पूँजीवादी, अस्तित्ववादी और व्यक्तिवादी विचारधाराएँ जनवाद-विरोधी धारणाएँ हैं और कोई भी जनवादी लेखक इनका पक्ष समर्थन नहीं कर सकता। इस परिभाषा और व्याख्या के आधार पर नागार्जुन स्पष्टत. एक मार्क्सवादी लेखक के रूप मे ही हमारे लिए विचारणीय हैं। अपने उपन्यासो मे श्रमिक और किसान जनता के अलावा वे भारतीय नारी की समस्याओ को भी उठाते है। साथ ही उनकी सबसे महत्त्व-पूर्ण विशेषता यह है कि उनके उद्धारक पीडित और शोषित वर्ग मे से ही चलकर आते हैं। इस दृष्टि से उनकी जनता खुद को प्रशिक्षित भी करती है और अपनी लडाई लडती भी खुद ही है। कविताओ मे जब वे पौराणिक प्रतीकों का इस्तेमाल करते हैं तब वे उन्हें एक नये अर्थ सन्दर्भ मे देखने की कोशिश करते है। परम्परा और आधुनिकता का इतना गभिन ताना-बाना वे बुनते है कि परम्परा उपकृत और आधुनिकता भास्वर हो उठती है। ठेठ मार्क्सवादी होने के बावजूद नागार्जुन की दृष्टि का विकास डॉ० रामविलास शर्मा की भाँति राष्ट्रीय परिस्थितियो के बीच हुआ है। इसीलिए वे मार्क्सवाद की विदेशी गुलामी से बचकर अपना रास्ता बना सके हैं। यही उनका मार्क्सवाद उन व्यापक जन-वादी आधारो का स्पर्श भी कर लेता है जिन्हें कभी-कभी आलोचना का विषय बनना पडा है।

अंतिम प्रश्न यह भी उठाना जरूरी होगा कि मार्क्सवादी कवि नागार्जुन के काव्य मे वस्तु और शैली के सहयोग का स्वरूप क्या है? इसका उत्तर विशेषकर नागार्जुन के सन्दर्भ म बहुत कठिन है। कई ऐसी कविताएँ हैं जहाँ वस्तु और रूप की सहचारिता क्लासिक मानदण्डो को छूती दिखाई देती है, किन्तु ऐसी भी रचनाएँ कम नहीं हैं जहाँ आवेग और विचारो के धक्के मे सारा रूपविन्यास बिखर-सा गया है। यह कहना होगा कि नागार्जुन रूपवादी कवि तो कदापि नही हैं। किन्तु वे शैली या अभिव्यक्ति के ढग पर कोई ध्यान ही नही देते—यह कहना भी सच्चाई का गला घोटना होगा। ऐसी कितनी ही कविताएँ है जिन्हें लिखने के पहले इस कवि को पुराने छदो और समकालीन मुहावरो के विराट जगल से गुजरना पडा है। कवि की यह मान्यता है कि पाठक सिर्फ विचार के लिए कविता नही पढता। उसे छद सगीत और लय-विन्यास की अपेक्षा भी रहती है। साथ ही सहज-सम्प्रेषण की जिम्मेदारी भी व्यक्तिगत रूप से कवि की ही है। इस दृष्टि से कवि का काम बहुत सरल और सीधा-साधा तो नही है। क्या कारण है कि नागार्जुन समकालीन फैशनो की दुनिया को छोड पुराने छदो और लोक सगीत की ओर बढ़ जाते हैं। कहने को तो वे बहुत पुराने रूप-विधान की शरण मे चले गए हैं किन्तु उसे छूकर कितना चमका दिया है और समकालीन कविता इस दृष्टि से कितनी विविधतायुक्त हो गई है— यह उल्लेखनीय बात है। डॉ० कर्णसिंह की यह धारणा मुझे ज्यादा सही लगती है कि "कोई भी कलारूप समकालीन कवि के लिए अछूत नही है, वह जिस भी नए-पुराने रूप म अपनी बात कहेगा वह बात पुरानी नही नयी होगी।' इस कथन के सन्दर्भ मे मैं सिर्फ यह बात और जोडना चाहूँगा कि बात या अनुभव को अधिक कारगर और प्रभविष्णु बनाने के लिए उपयुक्त रूपविधान की खोज बहुत जरूरी है। नागार्जुन की सफलता का रहस्य यही छिपा हुआ है। वे सिर्फ

पुराने की तलाश नहीं करते, उसमें से उपयुक्त की खोज भी करते हैं। यही स्थिति नागार्जुन की भाषा की भी है। वे भाषा की किसी खास प्रणाली से बंधे हुए नहीं है। निराला की भांति वे अनेक छंदों और अनेक भाषारूपों का उपयोग करते दिखाई देते हैं। निराला के बाद *भाषा-वैविध्य* तो केवल *नागार्जुन* में ही दिखाई देता है। इससे स्पष्ट है कि रूपविधान के प्रति नागार्जुन कहीं भी उपेक्षा का बर्ताव नहीं करते। साथ ही उसे कथ्य पर हावी भी नहीं होने देते। लोकलयों और ग्राम्य शब्दों की पकड़ भी उनकी इतनी सहज और प्रयोग इतना स्वाभाविक है कि सारा कवि कर्म प्रगतिशील आदर्शों के मानदण्ड का काम करता हुआ जान पड़ता है।

कहना होगा कि नागार्जुन का काव्य परम्परा, लोक और शास्त्र की मिली-जुली सहकारिता का परिणाम है। इसलिए उसे यह कहकर संतोष नहीं किया जा सकता कि यह मात्र आलोचनात्मक यथार्थवाद की पहचान है। उसकी सही संज्ञा समाजवादी यथार्थवादी ही होगी, जिसमें कि भारतीय समाज के रोगों और उसकी परिवर्तनकारी निर्णायक ताकतों की ओर एक गहरा और सार्थक इशारा है। नये मानव-भविष्य के प्रति आशा और आस्था का स्वर है। सामूहिक जीवन शैली और राष्ट्रीय जीवन दृष्टि की प्रधानता है।

लेखकीय कर्मकाण्ड एक रपट

नागार्जुन के लेखकीय कर्मकाण्ड का हवाला देते हुए कमलेश्वर लिखते हैं—

"एक दफा यह रपट लिखने बैठा। इलाहाबाद म। मैंने कहा 'कागज दूँ?' बोला 'नही। दफ्ती का बडा सा टुकडा दो।' सोचा, शायद इस हल्की सर्दी मे गर्मी लगती हो। पखा दे दिया। पर नहीं, दफ्ती ही चाहिए थी। एक पूरा दिन गुजर गया। मैंने पूछा 'कुछ लिखा ?'

'नही।'

'तो कब शुरू करेंगे ?'

'शुरू तो कर दिया है।'

तीसरे दिन देखा। स्कूली कापियाँ सब कोरी पडी है। पूछा 'कागज ला दूँ ?'

'नही। कापियाँ है। अमरूद ला दो।'

'अमरूद तो आ जायेंगे, पर और कुछ ··?'

'अभी ला दो अमरूद।'

फिर दूसरे दिन देखा। गाडी जहाँ की तहाँ। निगाह दौडाई, स्याही की दावात है ही नही।

'स्याही ला दूँ ?'

गोद की शीशी ला दो।'

यह सब समझ म नही आया। नाग बाबा खिलवाड म लगे हुए हैं। दूसरे दिन देखा दफ्ती पर सफेद कागज चिपका हुआ है।

'कुछ लिखा ?'

'हाँ।'

मन तो हुआ कहूँ 'कहाँ लिखा है? दिखाइये।' पर चुप रहा। देखा कमरे से उतर कर नीचे आये हुए हैं। अमरूद माँग रहे है और छेद करने के लिये कोई नुकीली चीज।

'थोडा-सा तागा भी देना।

शाम को दफ्ती मे छेद हो गए थे, ऊपर माथे पर। उनम तागा पिरो दिया गया और वह दफ्ती ताबीज की तरह मेरे कमरे की एक कील पर लटक गयी। मैं उकता गया था इस लेखकीय कर्मकाण्ड से।

'और कुछ चाहिए ?'

'पैमाना और पेंसिल।'

आखिर दसवें या ग्यारहवें दिन देखा, 'दफ्ती पर जो कागज चिपकाया गया था, उसे बारह खानो म बाँट दिया गया है। हर खाने पर अध्याय एक, अध्याय दो लिखा हुआ है और बाकी जगह खाली पड़ी है।

को पढ़कर ही जाना जा सकता है। उनके जीवन-अनुभव का यही यथार्थ है, जो बार-बार उन्हें कलम थामे रहने को मजबूर करता है। इसलिये जब वे कहते हैं कि 'अक्सर गुस्से मे होने पर कविताएँ लिखता हूँ', यह सिद्ध करता है कि आध्यात्मिक महामौन की तरह सामाजिक महाकरुणा जैसी स्थिति भी होती है। उसमे लेखक को तिल-तिलकर जलना पडता है। जल-जलकर तपना पडता है। अनुभव की तेज आँच मे से किसी अग्नि-पुत्र की सघटना करनी पडती है, फिर आप उसको वक्त काटने के बतौर नही पढ़ सकते। पण्डिताऊ या वक्तकाटू साहित्य लिखना नागार्जुन का काम नही। उनके काम के पीछे एक गहरा सामाजिक उद्देश्य होता है जिसमे प्रचार भी है और परिवर्तन भी। उसे पढ़ते हुए सिर्फ किस्से हमारे सामने नही होते, उनके पीछे से झाँकने वाले कुछ ठोस सामाजिक-राजनीतिक मुद्दे होते हैं, जिनके बीच लेखक हमे ले जाकर खडा कर देता है। लेखक को प्रचारधर्मी होना चाहिये या नही—यह सवाल यहाँ उठ सकता है। मेरी दृष्टि मे श्रेष्ठ साहित्य हमेशा ही प्रचारधर्मी होता है। तुलसी का सगुणवाद रामचरित मानस मे बहु-प्रकट और बहुप्रचारित है। प्रेमचन्द पर तो यह आरोप लगाया ही गया है। गोर्की और तालस्ताय भी कम प्रचारधर्मी नही। प्रश्न सिर्फ यह रह जाता है कि उक्त प्रचारधर्मिता का स्वरूप कैसा है? क्या वह शुद्ध नारेबाजी या अखबारबाजी है? लेखकीय कथनो के पीछे अनुभवो के समर्थ-चित्र हैं या कोरी भाषणबाजी है? उसके पात्र, घटनाएँ और विचार ठीक-ठीक सगुफित हैं या नही? जिन बातो को वह सम्प्रेषित करना चाह रहा है, उनको वह खुद कितना कितना जानता है? क्या सारा लेखन सतही या ऊपरी तो नही है जिसे किताबो या सूचना केन्द्रो से उठा लिया गया है? अथवा लेखक भीतरी तौर पर उनके निकट रहकर उनसे जूझता रहा है। नागार्जुन के उपन्यासो को पढते हुए हम इसकी परीक्षा बहुत आसानी से कर सकते हैं। वे प्राय. उन्ही अनुभव-खण्डो को लेते हैं जिनके बारे मे उनकी जानकारी बहुत गहरी है। इसीलिए गाँव और शहरो का निम्न-मध्यमवर्गीय जीवन ही वे कच्चे माल के रूप मे इस्तेमाल करते हैं। पढी और सुनी हुई दुनिया पर उनका भरोसा कतई नही है। वे देखी हुई दुनिया के लेखक हैं। इसलिए उनके चरित्र बेहद प्रामाणिक हैं। सामाजिक यथार्थ लेखन की यह पहली शर्त है कि रचनाकार उस वास्तविकता से निकटस्थ परिचय रखता हो। सैद्धान्तिक परिचय मात्र नही। पात्रो और स्थितियो की दुहरी तिहरी यथार्थ-परतो को देख सका हो। जमनिया का बाबा, अभिनन्दन (हीरक जयन्ती) जैसी कथाकृतियों में नागार्जुन पात्रो को जिस आत्मविश्वास के साथ खोलते हैं, वह सिर्फ यथार्थ-उद्घाटन भर नहीं है, मनुष्य के भीतर एक और मनुष्य, घटना के भीतर एक और घटना की खोज है। मार्क्सवादी लेखक होने के नाते वे सिर्फ बाहरी दशाओ तक ही अपने को सीमित नही कर लेते। उस अन्तर-जगत म भी उतरते हैं, जो प्राय मनोवैज्ञानिक कथाकारो की अपनी पद्धति है। भीतर और बाहर के इस दुहरे यथार्थ को वे जिस निपुणता से पकड़ते और प्रस्तुत करते हैं, उससे समकालीन मनुष्य का एक समग्र चित्र हमारे सामने आ पाता है। वह जो हमारी आँखो के सामने है खुद अपनी नजरो म क्या है। दूसरे उसकी नजरो मे क्या हैं। जरा 'जमनिया का बाबा' के दो खयाल-चित्र देखिए—

भगौती सोचता है—

"सेठ बिर्धीचद का जमनिया के चीनी के कारखाने मे इक्यावन प्रतिशत शेयर है। ढाई तीन सप्ताह से मिल मे मजदूरो की हड़ताल चल रही है, बडी मुश्किलो से अब आकर समझौते का रास्ता खुला है। स्वामी अभयानन्द का जिस पार्टी से ताल्लुक बतलाते हैं, उसी पार्टी के असर मे इधरवाली चीनी मिलो के मजदूर मुद्दत से रहे हैं। सेठ जी ने अपना आदमी भेजकर प्रदेश की राजधानी मे बैठे हुए श्रममंत्री तक यह बात पहुँचा दी है कि जमनिया के बाबा से उनका कभी कोई वास्ता नही रहा 'सेठ बिर्धीचद कितनी दूर की सोचता है भगौती ? जिस मरे हुए साँप को तुम अब भी गले मे लपेटे हुए हो, सेठ उस साँप की पहचान तक से इन्कार कर गया।

भई भगौती, यह तो मानना ही पडेगा कि बनिया जमींदार से कई गुना अधिक चतुर होता है। नही ? मैं गलत कहता हूँ।" (पृ० 120)

मस्तराम सोचता है—

"एक साधू के नाते, मुझे यह सवाल जरा भी परेशान नही करता कि बाबा जन्म से मुसलमान होने पर भी क्यों हिन्दू साधु बनकर हमारे बीच अपने को पुजवाता रहा ? हम सदियो से मुस्लिम फकीरो और ईसाई सतो को अपनी श्रद्धा-भक्ति देते आए हैं उनके हाथो का प्रसाद ग्रहण करके हमने अपने को धन्य माना है। हमारा समाज इतना क्षुद्र कभी नही होगा कि इस सिलसिले को खत्म कर दे।

मेरे लिए परेशानी की बात यह है कि दो साल बाद जब बाबा जेल से बाहर निकलेगा तो फिर कही किसी नदी के कछार मे या कि वीरान जगली इलाके म अपनी लम्बी जटाएँ फैलाकर बैठेगा और भगौती-लालता जैसे चालबाज आदमी इस घुटे हुए औघड को फिर से मिल जाएँगे। फरेबियो की मिली-भगत का चस्का लग गया है बाबा को··· जालिमो और ठगो की जमात फिर से इम रगे सियार को अपना महन्त नही बना लेगी?

हमारे समाज के अन्दर ठौर-ठौर पर कूडो के अम्बार इकट्ठे हैं···इस तरह के छटे हुए बाबा लोग वही अपना आसन जमाते हैं और रातो रात नये मठ खडे हो जाते हैं। फिर वहाँ ढाका काठमाडू होकर गुप-चुप कीमती माल पहुँचने लगते हैं···छोकरियाँ आती हैं, छैले आते हैं, उनके साथ टेपरिकार्डिंग मशीन होती है, ट्रान्समीटर होता है।

हमारा समाज किस तरह लपकता है इन जटाधारी बाबा लोगो की तरफ!" (पृ० 137)।

यथार्थ को पकडने के लिए यह स्वप्न-चित्र शैली नागार्जुन अपनाते हैं। मनुष्य की भीतरी तहो की खोज-खबर लेने के लिए यह प्रक्रिया कितनी कारगर है। मत्र व विता मे इसी यथार्थ निरूपण को व्यग्यात्मक शैली के माध्यम स प्रस्तुत किया है। नागार्जुन भारतीय समाज के उन यथार्थवादी लेखको मे से हैं जो राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक दुर्बलताओ और बदमाशियो के साथ-साथ धार्मिक पाखण्डो को भी मद्दे नजर रखते हैं। धर्म और राजनीति के ढोग जहाँ मिलकर खतरनाक होते हैं, उसे भी उधेडते हैं। इस प्रकार की प्रचारधर्मिता समकालीन लेखन के लिए धर्मवत है। यही पहुँचकर लेखन परिवर्तन का एक कारगर हथियार बन पाता है। वह अधूरा यथार्थ है जो सिर्फ

पाखण्ड और शोषण का जिक्र करके दम मारने लगे। पूरा तो तब होता है जब वह मानवीय सक्ल्प और आचरण की दुनिया म उतर जाता है। मस्तराम प्रतिज्ञा करता है—

"मैं देखूंगा, जेल स छूटने के बाद यह बाबा किधर जाकर बैठता है।

मैं देखूंगा किस तरह फिर से अपनी जटाओ के अन्दर जूँ पालता है।

मैं देखूंगा, किस तरह पाकिस्तानी और चीनी जासूस इस जटाधारी के रगीन चोगे की आड मे पनाह पाते हैं।" पृ० 139

राष्ट्रीयता और सामाजिक नवनिर्माण नागार्जुन के यथार्थवादी लेखन के दो मुख्य सोपान हैं। हिन्दुस्तानी होना मात्र ही नहीं, दिखना भी चाहिए। महानगर की [illegible]

पर, घडा पानी पड जाता है। ढोग न तो आचरण मे हो न शब्द मे। पाखण्ड न तो समाज मे हो न व्यक्ति मे। सामाजिक जीवन के ये महाघातक शत्रु है। इसीलिए भाषा, प्रतीक, छद, लय कहीं भी यह कवि रूढ आग्रह से या सैद्धान्तिक जडता से आक्रात नही बल्कि उन्हे तोडता चलता है। नागार्जुन की रचना-प्रक्रिया को ध्यान से देखने पर पता चल जायेगा कि यह व्यक्ति अपनी कविता कैसे तैयार करता है। आरोप है कि कवि बडी हडबडी मे रहता है और आवेग उसे सोचने का मौका तक नही देते। पूछा जा सकता है आवेग क्या किसी पशु के हैं या किसी सजग सवेदनशील मनुष्य (कवि-लेखक) के? किन्ही दारुण या उल्लासकारी स्थितियो मे आवेगो का निर्झर किस व्यक्ति के भीतर फूटता है? मनुष्य के आवेग के पीछे उसके सामाजिक-सास्कृतिक सस्कारो की कितनी सघन पहल होती है, इसे मनोविज्ञान के पण्डित काफी बता चुके हैं। बौद्धिक प्रचण्डता के इस अध महासागर मे आवेगशीलता ही हमारी रक्षा कर सकती है। क्या कारण है कि आज के लेखक को अपनी ईमानदारी की कसम खानी पडती है। उसे बार-बार बताना पड रहा है कि सब कुछ भोगकर लिखा गया है। पूछा जा सकता है पहले के कवियो को यह शपथ क्यो नही उठानी पडी? कारण यह कि वह बौद्धिक चातुर्य से प्रसूत लेखन नही करते थे। शरतचद्र और बकिमचद्र को यह चिंता क्यो नही घेर सकी? फिर भी वे हमारे समय और समाज के प्रामाणिक लखक कैसे बने बैठे हैं? उनकी आवेग-प्रखरता और भाव-ऊर्जा न ही उन्हे हमारे लिए अपरिहार्य बना दिया है। आवेग व्यक्ति को सहज बनाता है। सरल और दुर्बोध नही। सरल और दुर्बोध से सोची गई बातें या काते हुए विचार होते हैं। अनुभव तो आँखो देखने जैसा सहज होता है। नरेन्द्र (स्वामी विवेकानद) ने रामकृष्ण स पूछा था—'महाराज! क्या आपने ईश्वर के दर्शन किए हैं?' उन्होने तनिक भी सोच विचार न करते हुए उत्तर दिया, 'बेटा, मैंने ईश्वर के दर्शन किए हैं। तुम्हें जिस प्रकार प्रत्यक्ष देख रहा हूँ, इससे भी कही अधिक स्पष्ट रूप स उन्हे देखा है।' एक लेखक की अनुभव प्रत्यक्षता भी इतनी ही सहज होती है, अगर वह बहुत चतुराई या पाण्डित्य स आक्रात होकर केशवदास नही बन गया है तो। तुलसीदास ने अपने बारे म लिखा है कि कोई उन्ह कवि और चतुर न कहे। वे यह हैं ही नहीं। उस युग मे भी बहुतेरे चतुर कवि थे। भिडाऊ और जुगाडू लेखक थे। हमारा

युग भी इस दृष्टि से विपन्न नही है। काफी सयाने और मतिगूढ लोग है जिनको लक्ष्य करके मुक्तिबोध जैसे कवियो को लिखन को बाध्य होना पडा कि सफलता की चाँदनी रात मे उल्लू बोलते है। क्या किसी लेखक की सफलता उसके द्वारा प्राप्त राजकीय सम्मान है ? या विश्वविद्यालयो द्वारा प्रदत्त सम्मानित उपाधियाँ ? आखिर वह क्या है जिससे एक लखक सफल माना जा सकता है ? क्या सफलता कोई सर्वथा व्यक्तिगत मूल्य है ? शायद नही। लेखक की सफलता उसके विचारो की सार्थकता म निहित है। केवल मूत वासनाओ या आवेगो के सम्प्रेषण म नही। जिस आवेग ने उस रचना प्रवृत्त किया है, उसका सबध किस जीवन मूल्य से है, यह भी हमे देखना पडता है। यह भी कि प्रत्येक लेखक की दृष्टि और चितवृत्ति जीवन के कुछ रूपो म ही अधिक रमती है, कुछ म नही या कम। इसलिए उसकी सफलता या असफलता की माप इसस नही होगी कि उसने कितना छोड दिया है। बल्कि इससे होगी कि जिस जीवनानुभव को उसने स्वीकार किया है उसके प्रति उसका न्याय कैसा है ? मसलन नागार्जुन की राजनीतिक कवि-ताएँ। क्या वे किसी पार्टी-विशेष की ओर से लिखी गई हैं ! क्या कवि को सचमुच ही किसी पार्टी मे आस्था नही है ? क्या वह अराजक है ? या उसका अपना भी कोई सपना है और उसे धरती पर उतारने वाल लोग है ? समकालीन राजनीति की भयकर कटु आलोचना उनकी कविताओ म है किंतु पढते-पढते यह भी भासित होता है कि कवि की पक्षधरता किसी दल विशेष के प्रति न होकर उस जनोन्मुखी राजनीति क प्रति है जिसक केन्द्र म भारत की जनता या आम आदमी है। आजादी के पूर्व इसीलिए गाँधी उसकी कविताओ की आशा रहे है, किन्तु किसान आन्दोलनो तक आते-आते उनकी स्थिति बदल गई। जनता से कही अधिक वे बनिया के सरक्षक बन बैठ। परिणामत कवि समाजवादी कार्यकर्ताओ के समीप आया और आज तो वह उत्कट और प्रचड किंतु छद्म वामपथियो से भी घनघोरत क्षुब्ध है। अब उसकी मुट्ठी मे कुछ विचार है, जिन्हे वह अपने ही पात्रो और घटनाओ के सहारे मूर्त कर रहा है। दुखमोचन एक ऐसा ही सम्मूर्तन है। बाबा बटेसर नाथ भी। उग्रतारा भी। ये सब गवई चरित्र है, किन्तु जिनकी दृष्टि अमद और निष्ठा असदिग्ध है। साहस और सक्रियता, विचार और सकल्प, लोक समर्पण और समय विवेक जिनके प्रधान लक्षण है। जो किसी भी जाति के लिए मूल्यवान हो सकते है क्योकि मानवीय प्रचुरताओ स भरपूर हैं। नागार्जुन के कथा बिम्ब जहाँ ऐस है वही उनके काव्य बिम्ब अत्यत व्यग्यात्मक या उल्लासकारी। उनकी प्रक्रिया मे एक चौतरफी सजगता का सकेत हम हमेशा मिलता रहता है और लेखक सबका समुचित उपयोग करता हुआ किसी स भी पराभूत नही होता। हमारे समय के लेखको की रचनाएँ कितनी इकहरी हैं। उनक छद, भाषा, विचार और दृष्टि तक एक जैस है। भयानक एकरसता और एकरूपता आ गई है उनम। कितने सारे आग्रहो की चपट म वे आ गए हैं। उसका परिवश कितना सकीर्ण और छोटा हो गया है और रचना-ससार कितना रटा रटाया। क्या प्रगतिशील, क्या गैर वामपथी सब एक दूसरे के कितने करीब आकर खडे हो गए हैं। हमारी दुनिया कितनी सिमट आयी है। नागार्जुन इस प्रतीति को तोडते हैं। वे हम हमारी वास्तविक

बडी दुनिया मे ले जाते है, जहां सचमुच हम हैं, इतिहास और राजनीति के मोड़ पर। वे केवल उन मूल्यो की बात नही करते जिनकी गिरफ्त मे हम बुरी तरह फस चुके हैं, *बल्कि उन्हें भी खडा करते हैं जो हमे यहां से निकालकर ले जा सकेंगे। व्यक्तिगत जीवन* के लिए बहुत सारी उपयोगी बातें आपको अपने समय के धुरधर लेखको की किताबो मे मिल जायेंगी। आप चाहे तो उन्हे अपनी मूल्यवान डायरियों मे टांक ले सकते हैं। नागार्जुन इस प्रकार के धुरधर नही है। उनके लेखन के पीछे एक गहरी नैतिक जिम्मेदारी काम करती रहती है, जहां स्वार्थ भावना का लेश भी नही रहता। इस रूप मे वे ऐसे साहित्य-सत हैं जो प्राणिमात्र का अहेतुक मित्र होता है। सामाजिक हितलाभ ही उसका सुख और मानव-विरोधी शक्तियाँ उसके क्षोभ और रोप का कारण हैं। इसलिए उनका सौन्दर्य-बोध उच्च सास्कृतिक चेतना की देन है, जिसमे वायवीयता के बदले ऐहिकता और लोकपरकता है। लोक की यह प्रमुता ही उनके लेखन की आद्योपात प्रतिज्ञा है। शाहेवक्त और पार्टी-महत्व उसके लिए विचारणीय होकर भी इसीलिए निर्देशक नहीं बन पाते। यह एक ऐसा नैष्ठिक अनुष्ठान है, जो तमाम खतरो के बीच पवित्र प्रेम भाव स किया जा रहा है। जिंदगी की तमाम धर्म की सी शर्तों को नामजूर करते हुए।

प्रकृति की सुन्दरता और सभ्यता की विकृति को वे एक साथ पकडते हैं। सौंदर्य और उल्लास मे वे अभिधेय बने रहकर सामान्य मानवीय भावो को पकडते हैं। उन भावो को इद्रियो के रसभोग तक पहुंचाते है। उनके भाव सक्रिय बिम्बो की कतार बनकर सामने आ खडे होते हैं। प्रकृति और मनुष्य का चिर साहचर्य झूमने लगता है। कभी वह नाचती है, कभी हम। जहां कहो वह हमारे लिए बाढ जैसा दुर्दिन लाती है, वहां हम बैठकर रोन क बजाय मानवीय पराक्रम दिखाते हैं। इतनी लबी यात्रा के बाद भी प्रकृति स हम ऊब नही हैं, न उसके हमारे सबधो मे कोई मौलिक फर्क आ सका है। देखे हुए को दिखाना या जाने हुए को जताना नही, भूलते हुए को निरतर याद कराते रहना। मूल वासनाओ के नजदीक ले जाकर खडे कर देना। यहां मुख्य विशेषता है बिम्ब शोधन और प्रसग-चयन की। वे उन्ही बिम्बो को पकडते हैं जो लोकसिद्ध हैं। सामान्य जीवन के अपने हैं। अकेली चांदनी रातें और अलसाये बगीचे उनके यहां ढूंढने पर भी नही मिलेंगे। जरा बसत का एक चित्र देखिये—

> झपटी पछिया
> दरक गए केलो के पात
> लेते ही करवट
> तेजाब की फुहारें
> छिडकने लगा सूरज
> मुंह बा दिया कलियो ने
> देखती रही निठुराई के खेल
> चुपचाप कलमुंही-
> भर गया जी

जोरो से कूक पड़ी

जनजीवन के बीचोबीच, उसकी चिन्ता से लदे फदे, चिर-परिचित लोकमन की अपेक्षाएँ उनके बिम्बो मे ढलती हैं। प्रतीको मे वे बेहद ठोस और लोकसबद्ध हैं। राजनीतिक आर्थिक और धार्मिक क्षेत्रो के परम्परागत प्रतीक—त्रिमूर्ति, पचमूर्ति, कुबेर, काली, दुर्गा, जिन्हे प्रगतिशील कवि छूने मात्र स शर्म खाता है, यह कवि धडल्ले स प्रयुक्त करता है। जातीय इतिहास की बात करने वाले सैद्धान्तिको की इस भीड-बिरादरी म यह अकेला कवि है, जो जातीय प्रतीको का सार्थक और साहसपूर्ण इस्तेमाल करता है —'काली माई' कविता देखिए—

कितना खून पिया है, जाती नही खुमारी
सुर्ख और लवी है मइया जीभ तुम्हारी
मुण्डमाल के लिए गरीबो पर निगाह है
धनपतियो के लिए दया की खुली राह है

यही नागार्जुन की मौलिक दृष्टि की खोज की जा सकती है। डॉ० देवराज ने लिखा है—"मूलत मौलिक लेखक वही होता है जो बिम्बों तथा स्थितियों के रूप मे देखी और पाई गयी जीवन सबधी सामग्री को एक नये ढग से देखता, सघटित करता और प्रकाशित करता है।" पत की 'ताज' कविता पढते हुए जिन विचारो का सम्प्रेषण किया गया है, वे बिम्ब म से न फूटकर कवि के अपने बिल्कुल निजी जान पडते हैं। नागार्जुन जिन बिम्बो को छूते हैं, सबस पहले उनकी गहरी जाँच-पडताल सवेदना के सन्दर्भ मे करते हैं। इसीलिए 'काली' के साथ 'मइया' शब्द-प्रयोग घनघोर सार्थक लगता है। प्रतीक का निषेध करते हुए विचार-थोपन का कार्य वे नही करते। सामाजिक जीवन म सबधित प्रतीक प्रतिष्ठा को आहत करने के बजाय वे उसकी ऐतिहासिक भूमिका की ओर हमारा ध्यान खीचते हैं। यही उन्ह सारी कविता पर अपनी मुहर लगाने का मौका मिलता है। परम्परागत सास्कृतिक चेतना और समकालीन आधुनिकता की विडम्बना उभर कर सामने खडी हो जाती है। नेरूदा और चेग्वेरा को आदर्श मानने वाले वामपथी कवि इन कवियो से यह उपयोग जाने क्यों नही सीख पा रहे हैं।

नागार्जुन चाहे कहानी-उपन्यास लिखें चाहे कविता—उनके लेखन की प्रामाणिक माप वह जनता है जो देश की सामाजिक और सास्कृतिक रीढ़ है। उनके बिम्ब, प्रतीक, भाव सब वसीसे चलकर आते हैं। जनता की आशा उनकी कविता की आशा और उसका सघर्ष उनकी कविता का सघर्ष है। जनभावना का इतना कुशल कवि हमारे इस समय मे कोई दूसरा नही। उन्हे हम ऐसा लेखक नहीं कह सकते जिसने जनवादी चरित्रो को माउथपीस के रूप मे इस्तेमाल किया हो या जनवादी बिम्बो में व्यक्तिगत अर्थ ढाल दिए हो। इस प्रकार का डिक्टेशन नागार्जुन की प्रकृति नही। विपरीत इसके वे स्वय ही लोक-निर्देशित और लोक प्रेरित हैं। लोक की सरस्वती उनके कण्ठ से प्रामाणिक अभिव्यक्ति पाती है। भारतीय जनजीवन कैसा हो—इसे वे बता सकने मे समर्थ हैं। प्रतीक्षा है तो भारतीय लेनिन की जो आए और इसे कारगर करे।

घोर औघड़ी अभिव्यक्ति की मार

भाषा केवल माध्यम नहीं है। इसीलिए मैं उसे कोई धराऊँ चीज नहीं मानता। वह कवि की शक्ति और दुर्बलता की पहचान है। मध्यकाल में तुलसी और गंग जैसे कवियों को इसलिए भी 'कवि सरदार' कहा गया क्योंकि इनकी कविता में भाषा के विविध प्रकार अवतरित हुए। उस समय बड़ा कवि कहलाने के लिए यह भी एक जुगत थी जो प्राय हर महत्त्वाकांक्षी कवि को लालच भरी चुनौती दिया करती थी। केशव इसीलिए षड्भाषा कवि हो गए। आधुनिक काल में भाषा के विविध रूपों और स्तरों के दर्शन हम निराला में होते हैं। इस सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण बहुत उदार और व्यापक है। पण्डितों की भाषा से लेकर आम आदमी की बोली तक उनकी कविता भाषा का राज्य फैला हुआ है। प्रसाद, कोमल, मधुर एवं ओजस्वी ध्वनियों की एक विराट अनुगूँज उनके यहाँ सुनाई पड़ती है। इस दृष्टि से अन्य छायावादी कवि इतने उदार और लचीले नहीं हैं। प्रसाद जहाँ भाषा की मधुरता के इन्द्रजाल में उलझकर रह गए हैं, वहीं पंत उसके रेशमीपन पर मुग्ध हैं। भाषा संबंधी यह इकहरा दृष्टिकोण किसी भी बड़े कवि के लिए बहुत श्रेयस्कर नहीं कहा जा सकता। क्योंकि भाषा प्रकारान्तर से वह लग्गी है जिससे कवि जीवन समुद्र की गहराइयों को थाहता है। भाषा की विविधता कवि के अनुभवों की विस्तृत दुनिया और उसके अपने रचनात्मक लगाव के कारण जन्म लेती है। समग्र और परिपूर्ण जीवन को जीने वाला कवि ही समग्र और परिपूर्ण भाषा का विधान कर सकता है। जिसके अनुभव अधूरे होंगे, भाषा अपने आप अपूर्ण हो जायगी। इस दृष्टि से विचार करने पर समस्त प्रगतिशील कवियों में नागार्जुन ही खरे उतरते हैं।

नागार्जुन के साथ सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि अभी भी उनका सम्पूर्ण लिखित साहित्य पुस्तकाकार छप कर हमारे सामने आ नहीं सका है। इससे भी अधिक चिन्तनीय यह है कि जितना हमारे सामने है उससे भी हम खुद को परिचित कराने में असमर्थ रहे हैं। गम्भीर किस्म के पाठक और आलोचक तो नागार्जुन को शायद इसलिए न पढ़ना चाहें कि यह कवि तो कविता के मामले में कतई सीरियस नहीं है [ऐसा वे मानते हैं।] कभी-कभी भौंचक्के होकर पूछते हैं—क्या नागार्जुन संस्कृत, पालि और प्राकृत अपभ्रंश के भी पण्डित हैं? क्या उन्होंने मेघदूत और गीत गोविन्द का रम्य अनुवाद भी किया है। क्या उन्हें बंगला, गुजराती, पंजाबी भी आती है? क्या वे सिंहली और तिब्बती वाङ्मय के भी पण्डित हैं? पूछने वालों के पास हजारों सवाल हैं। हमारे अभिजात-पाठक मन की यही पहचान है कि हम अपने लेखकों के बारे में इतने अल्प सूचित हैं। नागार्जुन के पाठकों को यह कहने में संकोच न होगा कि वे हमारे समय के सबसे समृद्ध भाषा-कवि हैं। उनके उपन्यासों, कहानियों, निबंधों, साक्षात्कारों और

कविताओ मे भाषा के जितने रूप और तेवर, रग और आकार मिलते हैं, उस देखते हुए दग रह जाना पडता है।

इसी प्रसग मे एक बार उन्होने कहा था—'दरिद्र बाप ने पैसे के अभाव मे सस्कृत पढाया—बाप पर पहले इस बात को लेकर भी मन गुस्से से भर उठता था। पर बाद मे लगने लगा कि यह अच्छा हुआ। अब तो मेरी राय मे मैट्रिक म एक परचा सस्कृत का अवश्य होना चाहिए, दूसरा लोक भाषाओ का।' सस्कृत एक सामासिक भाषा है। उसम शब्द-सक्षिप्त और अद्भुत किस्म की छन्दमयता है। पश्चिम मे जो भाषाएँ स्पेनिश गोत्री हैं उनमे भी यह सामर्थ्य दिखती है। भारतीय कवि अगर सस्कृत नही जानता तो वह एक प्रकार से अपनी परम्परा स कट जाता है। इतिहास और सस्कृति से उसका प्रत्यक्ष और जीवित सम्पर्क रह ही नहीं पाता। दूसरी ओर ऐसे सस्कृत ज्ञानी भी इस धराधाम पर हैं जो परम्परा के सामने विनयावनत हैं। उनकी अन्धश्रद्धा और साहसहीनता न उनका आत्मवर्चस्व छीन लिया है। आत्मविश्वास के अभाव म न वे कोई प्रयोग स्वय कर पा रहे हैं न ही किसी साहसिक प्रयोग की पीठ ही ठोक पा रहे हैं। इसीलिए नागार्जुन सस्कृत के नामधारी पण्डितो के रजिस्टर मे अछूत हैं। तोहमतो की भरमार है उनके लिए—वे 'मन्त्र' जैसी कविता लिखकर परम्परा के गौरव को नीचा दिखाने वाले दुष्ट विद्रोही हैं। देव भाषा के दिव्य-पूत और यशस्वी साम्राज्य के वे घातक शत्रु हैं। परम्परा की कोख स जन्मे हुए वे एक नालायक बेटे हैं। रचना और विचार के अखाडे म ऐसे मल्ल जब पैदा होते है, परम्परा के लिए आफत ही आ जाती है। उनकी सुख सुविधावाली विचार शुष्क, रचना बजर जीवन यात्रा के लिए अनजान खतरे पैदा हो उठते हैं। छदो के क्षेत्र म निराला न जब नयी जमीन तोडने की कोशिश की, कुहराम मच गया था, जैसे कोई अनहोनी घट रही हो। किंतु परम्परा तभी सार्थक, जीवत और गतिशील बन पाती है जबकि उसको निरन्तर नये-नये प्रयोगो के स्तर पर उतारते हुए उसकी सामर्थ्य को रचनात्मक चुनौती दी जाय। निराला और नागार्जुन ऐसे ही कवि हैं। अन्यथा राम की शक्ति पूजा और तुलसीदास की रचना करने वाला कवि कुकुरमुत्ता' की रचना मे कैस प्रवृत्त होता। जिसे 'जुही की कली' की कोमलता स अनुराग था वही 'करमकल्ल' की दुनिया म भी रस लेने मे समर्थ हो सका। नागार्जुन ने कालिदास साहित्य का गभीर और विशिष्ट स्वाध्याय किया है। 'बादल को घिरते देखा है जैसी क्लासिक कविता लिखी है जिसकी कुछ पक्तियाँ इस प्रकार हैं—

शत-शत निर्झर निर्झरणी कल
मुखरित देवदारु कानन मे
शोणित धवल भोज पत्रो से
छाई हुई कुटी के भीतर
रग-बिरग और सुगधित
फूलो स कुन्तल को साजे
इन्द्रनील की माला डाले

शख-सरीखे सुघड गलो मे
कानो मे कुवलय लटकाये
शतदल लाल कमल वेणी मे
रजत-रचित मणि खचित कलामय
पान-पात्र द्राक्षासव पूरित
रखे सामने अपने-अपने
लोहित चदन की त्रिपदी पर
नरम निदाग बाल कस्तूरी
मृगछालो पर पलथी मारे
मदिरारुण आंखो वाले उन
उन्मद किन्नर-किन्नरियो का
मृदुल मनोरम अगुलियो को
वशी पर फिरते देखा है
बादल को घिरते देखा है।

दूसरी ओर यह भी नागार्जुन हैं—

धूप मे पसरकर लेटी है
मोटी तगडी अधेड मादा सूअर
यह भी तो मादरे हिन्द की बेटी है
भरे पूरे बारह थनो वाली

इसीलिए वे अपनी अभिव्यक्ति को 'घोर औघडी' कहते हैं जिसमे अभिशाप भी है और गाली भी। ठेठ बोलियो के छिनाल, रखैल, चुडैल जैसे मेदस शब्द भी हैं और शब्द को ब्रह्म निरूपित करने वाली भाषा के भी। इसलिए नागार्जुन की कोई हदबदी नही दिखाई जा सकती। सिर्फ उसकी चहल कदमी का जायजा लिया जा सकता है। वैदिक ऋचाओ से शुरू होकर लौकिक सस्कृत से होती हुई उनकी कविता खडी बोली के ठाठ और हिन्दी प्रदेशो की गँवई-अभिव्यक्तियो तक को समेटे हुए है। भयानक सग्रहकारी है यह जिसमे, अगरेजी, बगला, मैथिली, अवधी का धडल्ले से उपयोग किया गया है। उनकी एक कविता है जिसकी शुरुआत ही बगला की पक्ति से होती है—'धाकचो खो कोन एइ जे गाँधी महात्मा।' एक कविता का शीर्षक अग्रेजी मे है 'प्लीज एक्सक्यूज मी।' अगरेजी और बगला के अलावा उनकी कविता मे उर्दू शैली की झलक भी खूब मिलती है—

हमसफीर को सलाम, हम सफर को सलाम
सूबा-ए-बिहार के जौहर को सलाम।

ठेठ खडी बोली और परिष्कृत खडी बोली के तो खैर वे कवि ही हैं—'अकाल' और 'कालिदास' वाली रचनाएँ उनकी भाषा के मजाव और साफ-सुथरेपन के उदाहरण रूप मे प्रस्तुत की जा सकती हैं। निष्कर्षत. कहा जा सकता है कि भाषा के सन्दर्भ म नागार्जुन का दृष्टिकोण सर्वग्राही है। केवल 'उदार' कहकर हम उसका सही परिचय नही दे सकते।

सच्चे जन कवि की यह पहली पहचान है कि वह भाषा के किस स्वरूप का आग्रही है। क्या वह अपनी कविता को चंद बुद्धिजीवियों की रखैल के रूप मे पाल-पोस रहा है या वह उसकी सरचना लोकहित मे कर रहा है। नागार्जुन का दृष्टिकोण लोकहितकारी है। तुलसीदास की तरह उनकी कविता भी लोक के मगल के खयाल से लिखी गई है, किन्तु लोक मगल यही नही कि आप जनता के भविष्य के प्रति सिर्फ शुभकामनाएँ प्रकट करते रहे। लोकहित के लिए संघर्ष और प्रतिद्वन्द्विता के विकट अखाड़े मे उतरना भी पड़ता है। सिर्फ जबान हिलाने से काम नही चलता। इसीलिए कविता यहाँ सिर्फ जबान नही हिलाती। वह ललकारती है और बाज की तरह अपने शिकार पर टूट भी पड़ती है। इस नाते वह आक्रामक भी है। नकली क्षोभ और रोष की दुनिया मे वह ईमान और सच्चाई की बेमिसाल मिसाल है। शब्दो की यह तप्तता क्यो है? क्योकि नागार्जुन जनजीवन से न केवल जुड़े हुए हैं बल्कि उसके प्रति उनके मन मे गहरी करुणा और स्नेह है। वे शब्द चुनते नही, जनता की बोलचाल को कविता मे सीधे उठा लाते हैं—

चन्दू, मैंने सपना देखा, इम्तिहान मे बैठे हो तुम
चन्दू, मैंने सपना देखा, पुलिस-मान मे बैठे हो तुम
चन्दू, मैंने सपना देखा, उछल रहे तुम ज्यो हिरनौटा
चन्दू, मैंने सपना देखा, ममुआ से हूँ पटना लौटा

— — — —

बीत गई सर्दी, बीत गया माघ
रानी के खसम ने मारा है बाघ

काव्य भाषा के इस अनेक रूपी ससार मे—जहाँ कि अराजकता होनी ही थी—व्याकरण और शास्त्र की मर्यादाएँ भी खूब हैं। यहाँ शब्द जितने बहुरगी हैं, वाक्य उतने ही खुले-खुले। 'धान कूटती किशोरियों की कोकिलकठी तान/देखिए न, आखिर तक रोकती रही मैं/मगर इन पर तो भूत हो गया सवार/लेकर कर्ज, बनवाया है मकान/कही वाक्य एकदम सक्षिप्त और सारगर्भ हैं—

क्या खूब!
क्या खूब!
कर लाईं सिक्योर विज्ञापन के आर्डर।

केशवदास ने रामचन्द्रिका के वन मार्ग मे ग्राम वधुओ से एक-एक साँस मे चार-चार सवाल कराये हैं—

कौन हो, कित ते चले कित जात हो केहि काम जू
कौन की दुहिता, बहू, कहि कौन की यह बाम जू
एक गाउँ रहौ कि साजन मित्र बन्धु बखानिये
देस के, परदेस के, किधौं पंथ की पहचानिये।

नागार्जुन के यहाँ इसकी टक्कर का नमूना भी मिलता है—

चुप चुप तो मौत है
पीप है कठौत है

माँग नहीं है कि हम तथाकथित अभिजात निर्जीवता के छद्म सम्प्रेषणों से बचें और अपनी अभिव्यक्ति की मौलिक आविष्कृतियो की मर्यादाएँ स्थापित करें। हमारी जिन्दगी मे चीजें जितनी गड्डमड्ड हैं, उनका बयान भर करके सतुष्ट हो जाना आज का कवि कर्म नही है। उन्हे सिलसिला देना, उनके पीछे छिपे हुए तर्कों की खोज करना भी आज का कवि दायित्व है। नागार्जुन को पढते हुए यह अनुभव हमे बार-बार होता है कि हम अपने समय की कविता को अपनी ही भाषाओ मे पढ रहे हैं। हमारे अनुभव अब भी हमारी भाषा की पकड मे है। इसके लिए किसी अनुदित जुबान की मुंह ताकने की जरूरत हमे नही है। परिवेश का सम्पूर्ण राजनीतिक चेहरा तो इसमे दीख ही सकता है, इस रोशनी मे उसकी सामाजिक, सास्कृतिक, मनोवैज्ञानिक, अर्थशास्त्रीय, नैतिक और आधिभौतिक छाप भी खोजी जा सकती है। यह भाषा यो तो स्वतत्र काव्य सृष्टियो के लिए ही ज्यादा मौजू हैं किन्तु प्रबन्ध शैली की कविताओ म भी इसका बघार दिया जा कर उसका सोधापन बढाया जा सकता है। 'भस्माकुर' जैस पौराणिक सन्दर्भ वाले काव्य मे टिपिकल बोलचाल को इस कायदे से जगह दे दी गई है जैसे गुलाब की बाडियो की मेडो पर भटकटैया के नील पीले फूल हो।

"कहती है क्या सजनी ?
होश सँभाल
चाट न जायें हाय हमारे गाल
प्रभु के गले लटकते मोटे व्याल
सर्प-स्पर्श-सुख की आदत तो डाल
भुगतेंगे फिर होगा जो भी हाल

(पृ० 45)

प्रगति, स्वतत्र काव्य, प्रबन्ध और निबन्ध कविता के अनेक हलको मे मुक्तभाव से विचरण करने वाली नागार्जुन-वाणी कितनी आलकारिक और छविमुखी है यह विचार भी पण्डितो के लिए राहतकारी होगा। उनकी कुछ उपमाएँ देखिए—

बिल्लौरी काँच-सी काति वाली यह गर्दन
बरगद सी छतनार ऐसी पीठ
नन्हे मयूर-से ये नेत्र
देखी नही होगी ऐसी खूबसूरती

अगर कोई उनस रोमानी अदाज का नखरा झाडन लग जाए तो जानते है वे क्या कहगे। प्रकृति के अचल मे दौडकर खडे हो जायेंगे—और ताल ठोक कर बोल उठेंगे—

यह कपूरी धूप
शिशिर की यह दुपहरी, यह प्रकृति का उल्लास
रोम-रोम बुझा लेगा ताजगी की प्यास

किंतु दूसरे ही क्षण इस सारे वातावरण को लाँघते हुए आज की जिंदगी की यान्त्रिकता और कशमकश म आ धमकेंगे—

रात भर जगती रही
खटती रही
अब कर रही आराम
गाढी नीद का आश्वास भर अब मौन से लिपटा हुआ है
—बेखबर सोई हुई है छापने की यह विराट मशीन
अधर मुँह बाये पडे हैं टाइपो के मलिन-धूसर केस

नागार्जुन को 'दूधिया निगाहो' के कोमल उज्जवल लोक से चल कर 'फटी बिवाइयाँ' वाले कठोर यथार्थ तक जाने मे न तो कोई वक्त लगता है न कोई हिचक होती है। प्रकृति और आधुनिक वैज्ञानिक सभ्यता को दोनो हथेलियों मे पुरुष भाव से सम्हालते हुए वे मनोहर, रमणीय किन्तु विस्मयकारी नृत्य करते हैं जिसे हम त्रिनेत्र का लास्य भाव कह सकते हैं। वामन कद-काठी के नागार्जुन सचमुच त्रिविक्रमी हैं। शब्द, रस और गध की त्रिवेणी है उनकी सरस्वती। कल्पना और यथार्थ की मनोहर सगम रेखा पर उनकी छवियाँ हमारे मन के पटल पर इन्द्रधनुषी रगो मे खिच जाती हैं क्योकि वे जी भर कर देखने, सुनने, छूने, सूघने और खाने के बाद हमारे सामने परोसी गई हैं। आप कह सकते हैं कि क्या यही पाठको की नियति है कि वे कवि की जूठन चाटें। मैं कहना चाहता हूँ कला के अनुभव न तो झूठे होते हैं न पुराने। हजार बार दुहराये जाने के बाद भी वे निरन्तर नये हैं क्योकि वे सामान्य बुद्धि प्रसूत न होकर असाधारण प्रतिभा प्रसूत हैं। प्रतिभा के सूर्य से फूटी हुई कविता की किरण रोज ब रोज आने के बाद भी झूठी कहाँ होती है ?

इसलिए चाहे सगीत हो चाहे रास, तुक हो चाहे लय प्रतिभा-स्पर्श के बाद नयी देह-ऊष्मा प्राप्त कर लेते हैं। कला की आत्मा ही नही उसका शरीर भी तरोताजा हो उठता है। किंतु यह ताजगी तभी सभव है जबकि आत्मा अमद व भास्वर हो। शब्दो की जादूगरी दिखाने या कल्पना का चमत्कार प्रदर्शित करने के सबब से कवि कविता मे प्रविष्ट नही होता। किंतु जब होता है तब इस तैयारी के साथ कि उसके पाठक अर्थ को शब्दो के रमणीय लिबास के साथ ग्रहण करें। कवित्व की कीमत पर अर्थ सम्प्रेषण अगर कभी करना ही पडे तो कवि यह भी करेगा। नुक्कड कविता और पम्फलेट धर्मी रच-नाओं मे अक्सर यह द्वन्द्व सामने आ खडा होता है और कवि सारे कोमल सस्कारो को धूल की तरह झाडकर निपट अर्थ-निटाव म आकर खडा हो जाता है। हरिजन-गाथा जैसी लम्बी और दहशत भरी कविताओ मे यह निटाचपन कितना आक्रामक है कि सारे सामती स्वाद हिरन हो गए हैं। यही कवि जब फन्तासी रचने लगता है तो अभिजात भाषा की पैशाचिक दिव्यता देखते ही बनती है उसकी एक कविता है—'महादैत्य का दिवा स्वप्न' जिसका भीषण चित्राकन कवि कल्पना की धीरता और गम्भीरता का अनुपम उदाहरण है। यह वही कवि है जिसने लालबहादुर शास्त्री की याद में एक चित्र खीचा था—

'वह बारूदी बदबू पर ताजी मलय गध'

जिसने रानी एलिजाबथ के विराट साम्राज्य की याद करते हुए उन्हे 'भारी-भरकम डाल

उनके यहाँ खूब है। इसलिए यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि वे हमें भाषा के तीन स्तरों पर काम करते दिखाई देते हैं। पहला स्तर आलंकारिक और कल्पना प्रवणता का है तो दूसरा स्तर घनघोर क्लासिकी है जहाँ उनकी तटस्थ छेनी और कलाकारी हमारे सामने होती है। तीसरा स्तर वह है जिसे हम भाषा का यथार्थवादी स्वरूप कह सकते हैं। उनके उपन्यासों में भी—भाषा के ये विविध स्तर दिखाई देते हैं। 'बलचनमा' में शुद्ध मैथिली का प्रयोग किया गया है तो 'पारो' में सवर्ण-ध्वनियों की बहुलता है। 'वरुण के बेटे' में आंचलिक शब्द रूपों का ठाठ मिलता है तो अन्य उपन्यासों में राजनीतिक और सामाजिक वातावरण की भाषा का इस्तेमाल किया गया है। मैथिल जीवन से अंतरंग परिचय होने के कारण वहाँ की टिपिकल ध्वनियाँ, रीति-रिवाज और बोलबात भी अपने आप आ जाती है। ध्यान देने वाली बात यह है कि वर्णन, चित्रण, और कथन की क्षमताओं से सम्पन्न उसकी भाषा इलाहाबादी व्याकरण को अपना प्रमाण मानती है। इलाहाबाद के आस-पास बोली जाने वाली खड़ी बोली ही उसका मूल स्वरूप निर्माण करती है। खाने-पीने, बाग-बगीचे, शादी-गौना न जाने कितने प्रसंग हैं जो अपने वास्तविक रूप में हमारे सामने आ खड़े होते हैं। हमें लगता है, हम किसी लेखक या कवि से नहीं, सीधे उसी दुनिया से बातचीत कर रहे हैं। भाषा की यह अनौपचारिक छवि अन्यत्र दुर्लभ है। जनवादी भाषा कहना ही इसके साथ सबसे बड़ा न्याय होगा। भले ही विषय के अनुसार वह अपना रूप बदल लेती हो तब भी संप्रेषण-धर्म का निर्वाह करना नहीं छोड़ती। विषयानुकूल शब्द-योजना और वस्तुनिर्देश उसकी असाधारण विशेषताएँ हैं जो कविता को संवेग के धरातल से उठाकर जीवन-वास्तव के मंच पर ला प्रतिष्ठित करती है।

छंद, लय और तुक की परम्परा

कविता मे आधुनिकता का दिखावा करने वाला कवि सोचता है अगर उसकी तुकें कही मिल गईं, सुन्दर लय विधान घट गया तो कवित्व ही संदिग्ध हो जायगा। इसलिए कविता मुक्त छद की रूढि के सीमात पर आकर खडी हो गयी है जिसकी ओर डा० नामवर सिंह ने बहुत पहले इशारा करना शुरू कर दिया था। मुक्त छद निश्चय ही कविता के क्षेत्र मे एक आधुनिक आविष्कार है और हमारे समय की कविता अगर उसे अपनी उपलब्धि मानती है तो यह उचित ही है। किन्तु एक ही छद-शैली मे जब सारी युगीन प्रतिभाएँ अपने आपको व्यक्त करने लगती हैं, तब शैलीगत मौलिकता की स्वतत्र और पृथक बानगियाँ दुर्लभ हो उठती है। हमारे समय के सभी कवि लगभग गेय छदो को नमस्कार करके मुक्तछद के शामियाने के नीचे आ खडे हुए है और लगता है किसी न किसी दिन भीड इतनी बढ जायेगी कि मुक्तछद को खुद अपने बारे में सोचना पड जायगा। आज भले ही वह कविता के राज सिंहासन पर विराजमान हो किन्तु एक दिन सारे काव्य सत्य और काव्य-झूठ का पर्दाफाश करने के लिए उसे निर्णय और परीक्षा के दौर से गुजरना ही होगा। जब तक यह क्षण नही आ जाता तब तक उन सारे कवियो के मजा-मौज का जायजा लिया जा सकता है, जो मुक्तछद के अलावा और किसी भी अभिव्यजना पद्धति को आजमाने को तैयार नही है।

नागार्जुन छद के मामले मे न केवल उदार हैं बल्कि उनका आचरण अत्यन्त मर्यादित है। इतिहास की जिस धरोहर ने उन्हे मुक्तछद से जोडा है, वही दृष्टि उन्हें बरवै और हरिगीतिका तक भी ले जाती है। कविता को जिस दीर्घ परपरा से उनका सबध है वह सिर्फ उनके अपने युग की देन नही है। इसलिए छद के बारे मे वे ऐतिहासिक रवैया अपनाते हैं। उनकी कविता पुस्तको से गुजरते हुए हमारी भेंट अगर तीन मुक्त छदो से होगी तो पाच तुकान्त गेय छदो से। ऐसा क्यो है यह सवाल उतना मजेदार न होगा जितनी कि यह जिज्ञासा कि छदो के प्रति नागार्जुन की अपनी दृष्टि क्या है। कवि जब आवेग मे रहता है और अपने को रोक नही पाता तब मुक्तछद उसकी कविता की प्रधान प्रणाली बन जाता है। उस वक्त वह इस सुविधा का लाभ लेता हुआ दिखाई देता है। 'प्रेत का बयान', 'तो फिर क्या हुआ', सौन्दर्य प्रतियोगिता' या 'हरिजन गाथा' जैसी कविताएँ इसी आवेग की देन हैं। किन्तु यही कवि जब आवेगो की बाढ से मुक्ति पाकर जनजीवन के सगत-असगत छोरो तक अपनी कविता के साथ निकलता है, छद के सगीत की मनोरम लयो और यतियो का निर्माण करता दिखाई पडता है।—

इन्दु जी, इन्दु जी
क्या हुआ आपको ?
सत्ता की मस्ती म भूल गई बाप को

वया हुआ आपको

या फिर

वो चाँदनी ये सीखचे
कैसे गुथें, कैसे बचें
क्यों कर रुकें, क्या कर रखें
वो चाँदनी, ये सीखचें

अर्थ सगीत के साथ स्वर सगीत की सम्मिलित शक्ति का जो आविष्कार वैदिक ऋषियो ने किया था उसे हमारे नये कवि सोचने तक को भी तैयार नहीं है। मत्रा के पाठ क्रम मे अर्थ को प्रतिध्वनन सगीत स सम्पन्न करने वाले उदात्त अनुदात्त स्वरित क्रम वायुमडल मे जिस ध्वनि सगीत की रचना करते है उस सिर्फ मनुष्य ही नही इतर जीवधारी भी सुनते समझते हैं। कविता छद सगीत के जरिए शेष प्रकृति स यही अपना तादात्म्य स्थापित करती है। किन्तु हमारा युग विश्लेषणवादी और अलगाववधर्मी है। इसलिए वह अपनी पहचान बनाये रखने के सवब से कविता को उन तमाम परपरागत रिश्ता स विच्छिन्न कर देना चाहता है जो उसे एक सामूहिक ताकत नर नही द रहे हैं बल्कि अपनी सारी ऊर्जा देकर उसे जातीय वर्चस्विता और प्रतिभा का मानक बनाये हुए है। आश्चर्य तो यह है कि एक ओर तो कलाओ की अतरावलम्बनता पर जोर दिया जा रहा है, और दूसरी ओर कविता को इस अन्तरावलम्बन स मुक्त कराए जाने की कोशिश भी चल रही है। यही अन्तर्विरोध आधुनिक हिन्दी कविता की विशेषता बनता जा रहा है। नागार्जुन जैसे कवि इस अन्तर्विरोध की बारीक दयनीयता को समझते है और अपने पक्ष से इसका परिमार्जन करने की निरतर कोशिश भी कर रहे हैं। उनकी इस कोशिश का जायजा उनके काव्य पाठ के दौरान भी लिया जा सकता है जब वे बीच-बीच म कविता क कई टुकडा को गाने-बजाने पर भी उतारू हो जाते है। चाहे नयी कविता की पाठक मण्डली बैठी हो, चाहे कवि सम्मेलना का श्रोता समूह, वे छद अछद की विभिन्न-धाराओ म सतरण कर रहे होते हैं। छद चाहे स्वच्छन्द हो, चाहे मुक्त, वार्णिक हो या मात्रिक, तीव्रगामी हो या मदाक्राता, नागार्जुन की सवेदन विविधता के लिए सर्वप्रकारेण उपयोगी है। मेघदूत का अनुवाद प्रस्तुत करत हुए उन्हाने 'मुक्तवृत्त' पर जो विचार व्यक्त किया है वह उनके विश्वविगन्न पाण्डित्य का अदभुत प्रमाण है। भूमिका म वे लिखते हैं— 'मैं बहुत दिनो से सोचता रहा सोचता रहा कि किस प्रकार कालिदास की मूल भावना को ज्यादा स ज्यादा लोगा तक पहुँचा दिया जाय। × × × आखिर इस अनुवाद के लिए मैने स्वच्छद' छद को ही चुन लिया—पक्ति विच्छेद की शैली म गुम्फित गद्यकाव्य का यह ढांचा मुझे क्यो प्रिय है, बता नही सकता।' किन्तु अगले वाक्यो मे इस लगाव के हेतुओ का सधान करते हुए यूरोप-अमरीका, फास और हिन्दीतर भारतीयकाव्य धाराओ —विशेषकर बगला काव्य की छद प्रयोग सबधी विवेचनाम उतर पडते है। निराला और रवीन्द्रनाथ की तरह वैदिक ऋचाओ के स्वच्छद सगीत की ओर वे हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं—' वैदिक ऋचाएँ, उपनिषद के वाक्य, पालि-प्राकृत के सूक्त, आयुर्वेद की सहिताएँ, दर्शनो और व्याकरणो के सूत्र एव वृत्तियाँ, पिछले

युगों में निर्मित भाष्य-महाभाष्य—भारतीय वाङ्मय की यह लंबी परंपरा, स्वरशून्य गद्यों की नीरस परम्परा नहीं रही। विषय वस्तु के साथ गेय तत्व का यह सामंजस्य हम दशकुमार चरित में भी पाते हैं और हर्षचरित तथा कादम्बरी में भी।

तथापि यह मानना होगा कि वास्तविक मुक्त-छंद आधुनिक युग की उपज है। हमारे साहित्यिक प्रयोगों की शृंखला अन्यान्य देशों के साहित्यिक विकास की परंपरा से जुड़ी हुई है।" ओजस्वी प्रतीकों का पुरुष कवि मायकोव्स्की, फ्रांस के लुई अरागो, पाल एलुआर, इंग्लैण्ड के टी० एस० इलियट, अमेरिका के एजरा पाउण्ड, चिली के पाब्लो नेरूदा, तुर्की के नाजिम हिकमत का आधुनिक काव्य इसी मुक्तछंद के वैविध्यपूर्ण वैशिष्ट्य में सम्पन्न है। मुक्तछंद वस्तुतः ओज और आवेग का छंद है—पहाड़ी नदी के प्रखर प्रवाह की तरह घरघर-हरहर करता हुआ, आत्म साधना से दीप्त। वास्तव में वह आज के युग की मनुष्यता का स्वातंत्र्य प्रतीक है। कविता जितनी ही जनतांत्रिक होगी, मुक्तछंद के उतने ही रूप और स्वभाव हमारे द्वारा आविष्कृत होते चले जायेंगे। कहीं वह गीतनाट्यों की शैली धारण करेगा, कहीं काव्य-नाटकों की। कभी कथक-आख्यान-शैली अपनाएगा तो कहीं उपदेश-प्रशिक्षण शैली। कवि सम्मेलन के मंचों पर, जनजागरण के लिए सुरेश उपाध्याय जैसे कवि इसे जनता से संवाद करने के सबसे उपयुक्त माध्यम की तरह इस्तेमाल करेंगे। हास्य-व्यंग्य, करुण और वीर भावों के लिए यह छंद निहायत मौजूं है। पर इसके साथ ही नागार्जुन यह कहने में नहीं चूकते कि "छंदों पर जिनका अच्छी तरह अधिकार होगा, मुक्त वृत्त की रचना में वही सफल होंगे।" क्योंकि मुक्तछंद कोई सुविधा नहीं बल्कि आविष्कार है। आविष्कार को जनोपयोगी और काव्यधर्मी बनाने की जिम्मेदारी हमारी समकालीन कवि पीढ़ी के लिए एक मजेदार चुनौती है। नागार्जुन ने इस चुनौती का उत्तर देने की कोशिश अपने ढंग से की है। उनके मुक्तछंदों के कुछ नमूने इस प्रकार हैं—

(1) जिस बर्बर ने
कल किया तुम्हारा खून पिता
वह नहीं मराठा हिन्दू है
वह नहीं मूर्ख या पागल है
वह प्रहरी है स्थिर स्वार्थों का
वह जागरूक, वह सावधान
वह मानवता का महाशत्रु
वह हिरण्यकशिपु
वह अहिरावण
वह दशकंधर
वह सहस्रबाहु
वह मनुष्यत्व के पूर्णचन्द्र का सर्वग्रासी महाराहु
हम समझ गए
चट से निकाल पिस्तौल

तुम्हारे ऊपर कल
वह दाग गया गोलियां कौन ?
हे परमपिता, हे महामौन !
हे महाप्राण, किसने तेरी अन्तिम सांसें
बरबस छीनी भारत-मां से
हम समझ गए।

यहां कवि आवेग सम्पन्न भाषण शैली में मुक्तवृत्त को निखार रहा है। आवेग के बीच-बीच मे सहस्र बाहु/महाराहु, कौन/महामौन जैसे तुकों की बानगी भी अनायास स्वाभाविकता के साथ उपस्थित है। निराला की 'जागो फिर एक बार' जैसी कविताओ मे जो धीर गम्भीर मार्दवता है वह यहां भले ही न हो किन्तु सगीत की हल्की बारीक छाया दोनो छदो मे विद्यमान है। इसके विपरीत 'धाकचो खोकोन ओइ जे गांधी महात्ता' कविता मे नाटकीयना और वर्णन-कौशल की कारीगरी से मुक्त छद का ढांचा तैयार किया गया है। नाटकीय एकालाप का यह शिल्प प्रसाद की 'प्रलय की छाया' कविता मे मिलता है। नागार्जुन इस मोनोलॉग टेक्नीक को बीच-बीच में मग कर उसके दायरे को अधिक बहिर्मुख और बृहत्तर करने की कोशिश करते हैं—

निकालो फौरन पैसे, सभालो मूगफलियां
जाने कब से खोचा वाला तराजू लिए खड़ा है
... ...
मान ली मैंने अन्दर वाले मनसाराम की बात
मूंगफली लेकर बढ गया आगे
मैदान की ओर
रेसकोर्स की ओर
कानो मे लेकिन गूंज रहा था अब भी
धाकचो खोकोन ओइ जे गांधी महात्ता

मुक्तछन्द की यह नाटकीय सामर्थ्य मनोविज्ञान और समाजशास्त्र, राजनीति और दर्शन सभी क्षेत्रो मे कारगर साबित हो सकती है। गहन गम्भीर अनुभवो के नानाविध ऊहा-पोह के लिए तो यह शैली अद्वितीय उपलब्धि है ही—'पसन्द आयेगा ?' जैसी कविताओ मे नागार्जुन तर्क और विचार की सम्मिलित आभा इसमें प्रदर्शित करते हैं—

लिंग लौल्य
रसना-रास
वासनाओ का चैतसिक चुम्बन
लालसाओ का ललित-लास्य
बाहर-बाहर प्रतिष्ठा का आठोप आडम्बर
पसन्द आयेगा तुम्हें ऐसा सुदीर्घ जीवन ?
सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम—
चाटुकारिता के सहारे

अभिनव प्रभुओ को अनुरजित करता
पदे-पदे स्वार्थ साधन-परायण
अनुकूल-कला-प्रवीण पदे-पदे
वशधरो को वचना का प्रशिक्षण देना पसद आएगा तुम्हें ?
ऐसा सुदीर्घ जीवन ?

यहाँ अनुप्रासो के बलबूते पर मुक्तछन्द को खडा करने की कोशिश की गई है। शब्द-सगति की नयी योजनाओ के आर-पार, तुको की लुप्ति, वृत्त को अधिक आत्म निर्भर और स्वाधीन बना रही है। यह वह मोड है जहाँ मुक्तछन्द विचार गाम्भीर्य की आदर्श अभिव्यजना बन जाता है। ध्यान देने की बात यह है कि नागार्जुन इस जमीन पर गद्य और पद्य दोनो ही शैलिया से अपनी खुराक खीचते हैं। पर उसे खाद मिट्टी की तरह इस्तेमाल करते हुए कविता को एक सामाजिक बातचीत की प्रत्यक्ष शैली बना देने की जुगाड मे हैं। मुक्तछद की जमीन पर कवि इस शैली को कितने-कितने कोणो से सजाता-सँवारता है—कहने की बात नही। उसका मूल मकसद विचारो की उस फैली हुई दुनिया को समेटना रहता है जिसके आधार पर यथार्थ वस्तु जगत और उसके प्रति हमारे अपने फैसलो का निर्वारण होना रहता है। इसलिए मुक्तछद की जमीन पर स्वाभाविक द्रुति-माधुर्य और श्रवण धर्मिता का न तो कोई विरोध है न ही अनावश्यक आग्रह ही। छद चाहे जैसा हो, वह एक विज्ञान है और उसके पीछे अर्थ सम्प्रेषण के अपने तर्क निरन्तर काम कर रहे होते हैं। यही कारण है कि मुक्तछद की रचना छाँदसिक निर्मितियो से कही अधिक खतरनाक और साहसपूर्ण है। इसमे हल्का सगीत स्पर्श भी रह सकता है। जिसे नागार्जुन व्यवस्थित मुक्तछद कहते हैं और आवेगपरकता और वक्रोक्ति-सपुटता भी जहाँ सगीत की कोई जरूरत ही महसूस न हो। भाषागत वक्रता ही जिसे अभिनव पद प्रयोग से सम्पन्न करके कविता के खाते मे डाल आती है। नागार्जुन की शब्दावली मे यह निर्बन्ध मुक्त छद है जिसका प्रयोग उन्होने मेघदूत के अनुवाद में किया है—

प्रिय भाई,
मेरा यह काम पूरा करोगे न ?
आखिर, तुमने इस बारे मे क्या तय किया ?

मुक्त छद को सहज और अनिवार्य काव्य पद्धति के रूप मे स्वीकार करते हुए भी नागार्जुन तुक-लय समन्वित छद शैली को आधुनिक काव्य के लिए मूल्यवान मानते हैं। उनकी अभिव्यक्ति का एक बहुत बडा हिस्सा इसी शैली मे है। दोहा, कुण्डलियाँ, रोला, हरिगीतिका, मन्दाक्रान्ता, कवित्त, सवैया और बरवै तक का इस्तेमाल वे करते हैं। मैथिली मे अधिकाश प्रारम्भिक कविताएँ हरिगीतिका छद मे हैं। जबकि भस्माकुर तुलसी-रहीम के सुप्रसिद्ध बरवै' छद मे लिखा गया खण्ड काव्य है। बरवै बिछोह या शृगार का बडा प्यारा छद है। साकेत मे एकाध स्थलो पर इसका प्रयोग किया गया है। नागार्जुन ने इसकी व्यवस्था मे कुछ हेर फेर किया है। वे इस तुकान्त छद को अमित्राक्षर की भूमि पर ले आए हैं। प्राचीन छदो की सुदृढ और शास्त्र सम्मत व्यवस्था मे यह रचनात्मक घुसपैठ उनकी अपनी शैली है। भस्माकुर मे जहाँ अश वर्णनात्मक हैं वहाँ शैली

सस्कृतनिष्ठ है और बातचीत वाले स्थल एकदम ठेठ चलती भाषा में। तुक मुक्त बरवै का नमूना देखिये—

वर्ण-गध थे जिनके अमित-असीम
जान न पायी उन फूलो के लाभ
आगे पीछे शैलशृग हिमशुभ्र
पल-पल पुलकन भरते शिशिर समीर···

डॉ० रामविलास शर्मा ने नागार्जुन के राजनीतिक दोहा मे मूर्तिविधान की विशदता और चित्रण कौशल की भूरि भूरि प्रशसा करते हुए लिखा है 'चित्रण सौन्दर्य का यह कौशल अन्य कवियो के राजनीतिक दोहो मे नही है'—

खडी हो गई चाँपकर ककालो की हूक,
नभ मे विपुल विराट-सी शासन की बदूक।
जली ठूँठ पर बैठकर गई कोकिला कूक,
बाल न बाँका कर सकी, शासन की बदूक।

पुराने छदो की नयी आभा और अर्थच्छटा से सम्पन्न करना विशिष्ट प्रतिभा की माँग करता है। कमजोर सामर्थ्य वाला रचनाकार परम्परा से इसलिए भी कतराता है कि वह लोगो की निगाह और पण्डितो की पकड मे आ जायगा। नागार्जुन चाहते हैं कि पण्डित उन्हें पकडें और उनके शिल्प की बारीकियाँ बताएँ। या फिर उनके साहसिक और सगत प्रयोगो की दाद दें।

अपने छदो को विविधता और वैभिन्य देन के ख्याल स वे नौटकी, रामलीला, भजन मडलियो और लोकगायको की महफिलो पर भी निगाह रखते है। रेडियो स आने वाले विदेशी सगीत के स्वरो को भी पकडते हैं। किन्तु जब तक वे स्वर हमारी चेतना मे घुल-पच नही जाते, उन्हें रचनात्मक धरातल पर अगीकार नही करते। उनकी कविताओ मे लोक छदा का सौन्दर्य मैथिली म भी है और हिन्दी म भी। 'वरुण के बेटे' म ऐसे दो लोकगीतों का प्रयोग मिलता है—दूसरा करुण शृगार स ओतप्रोत है तो पहले मे नौटकिया की कथन शैली की बहार हमारा ध्यान खीचती है—भोला गाता है—

"मुँगुरी को मात करती है मेरी प्यारी
वो रगत और वो चिकनापन
कहाँ स लाएगी मगुरी बेचारी
मात करती है मँगुरी को मेरी प्यारी
मेरी जान। मेरी जान। मेरी जान।
निछावर हू तुझ पे भोला के परान!"

सवाद शैली म छद को ढालते हुए कवि न थियेटरी भाषा का विशेष ख्याल रखा है जबकि नीचे वाले गीत म उसकी स्वर-बारीकी और अर्थ-गभीरता का प्रमाण साथ-साथ पाया जा सकता है—

"जिनगी भेल पहाऽऽड, उभिर भेल काऽऽल!
नइ फेंकऽ नई फेंकऽ आहे मोर दिलबन,

नेहिया पिरीतिया के जा॥ल ! !
आवऽ जावऽ देखि जा हा॥ल ! !
उभिर भेल का॥॥॥ल ! ! !

भजन की ब्रह्मानन्दी छद शैली देखना हो तो यह पद देखिये—

तुम चन्दन हम पानी
हम काहिल हैं हम भिखमगे, तुम हो औढर दानी ।

चिरपरिचित छदा म समकालीन अर्थ को पिराते हुए नागार्जुन उन्हें सार्थक और प्रासगिक ही नही बनाते बल्कि यह भी चुनौती दते हैं कि समस्त पुराने को रुढ और जर्जर, गतिहीन और असमर्थ कहने वाल लोग सामने आयें और परम्परा का उपभोग करना सीखें। आधुनिकता आसमान ने नही टपकती। वह एक तर्क सम्मत रचनात्मक प्रक्रिया है। हवा म लाठी भाँजने वाला या शून्य म मौलिकता की डीग हाँकने वाले लोगा के बलबूते पर उसका भविष्य कभी नही टिका, आज क्या टिकेगा ? आधुनिक काव्य रचना के तर्क पर उसको नकारना हिन्दी की समकालीन कविता की एक ऐतिहासिक भूल है। प्रगतिशील कविता इस दृष्टि स अधिक इतिहास सम्मत दृष्टि और रचनात्मक विवेक का परिचय दे रही है। आधुनिक जीवन की एकरसता स बचने और विविधता का वातावरण निर्मित करने म नागार्जुन की यह छन्द दृष्टि बेहद उपयोगी है। नागार्जुन की छदोबद्ध रचनाओ के पीछे उनके तर्क भी काम कर रह हैं। पहला तर्क तो यही कि छदोबद्धता मे मौलिक तराश की चुनौतियाँ बहुत विरल हैं और इसी नाते कवि की शिल्प समर्थता का असली अन्दाज यही लग पायेगा। दूसरे, कविता की मौलिकता और ताजगी मुक्त छद म आकर जिस नयेपन का नाटक कर रही है उसका यह नकली नयापन टूट पाएगा और हिन्दी कवि को अपनी ही परम्परा के बडे कविया स आँखें चार करनी होगी, जिससे कि वह बचन की कोशिश करता आया है। तीसरे मुक्तछद ने कविता के क्षत्र म जो एकरसता पैदा कर दी है वह भी टूट सकेगी और भाषा और पद रचना की सपाट सादगी म रोक आयगी। इसस भी बडा लाभ यह होगा कि कविता जो आज भी श्रव्य काव्य बन सकने की सामर्थ्य रखती है, उस दौड म शामिल होकर व्यापक सामाजिक शून्य को भरेगी जहाँ फिल्मी गीतो और फूहड तुकबन्दियो का विराट घूरा जमता जा रहा है। इसलिए कविता को अतिवादी पाठ्य शिल्प स उबार कर श्रवण धर्मी और लोकोन्मुख बनाने के लिए महज जरूरी है कि हमारे समय के प्रतिभाशाली कवि छद और तुक लय की ओर आएँ। कविता की सामाजिक उपस्थिति को बनाय रखने के लिए उसे मानव मन पर प्रतिष्ठित करना होगा जो सीधे बयानो और सूक्ति-निर्माणो स आगे बढकर, बौद्धिक चमत्कारो की क्षणिक प्रभावान्वितियो को फाँदकर एक स्थायी अनुभव का रूप ग्रहण कर लेती है। छदोबद्धता से कतराना एक प्रकार स उस लोकमन की उपेक्षा और सच्चाई से आँख मूँदना है जो हमारे चारो ओर फैली हुई है, साथ ही कला की विविध वर्णी दुनिया म नये रीतिवाद का दुराग्रह भी। इन्ही विचारो के सन्दर्भ म नागार्जुन की कविता के इस पक्ष पर नजर डालनी होगी।

नागार्जुन के छदा का सबसे मोहक पक्ष उसकी लयात्मक सरचना है जिस वे काफी

श्रम के साथ तैयार करते हैं। उनकी एक कविता है 'तीन दिन तीन रात'। इस कविता को इस रूप मे ढालने के लिए कवि को तीन दिन सचमुच लग गए। 'तीन दिन तीन रात' की टेक को बार-बार दुहराते हुए कवि अर्थ की समन्वित परतों तक उतरता चला गया है। जैसे कोई कच्चे मकान की दीवाल का एक-एक रद्दा ऊपर दर ऊपर रखता चला जा रहा हो —

बस सर्विस बद थी
तीन दिन तीन रात
लगता था, जन जन की
हृदय गति मद थी
तीन दिन तीन रात
प्राचाय जिलाधीश, एस० पी०
रहे सब परेशान
तीन दिन तीन रात

यहाँ पहली और चौथी पक्ति मे तुक 'बद' और 'मद' के आधार पर रचे गए हैं किन्तु छठवी, सातवी पक्ति मे इसकी आवश्यकता भी नही समझी गई है। कवि अत्यत स्वतत्र और स्वाधीन हो उठा है। पूरी कविता मे बस एक ही पक्ति सारे छन्दोविधान को *कुण्डली मार शैली म बाँधती है। नागार्जुन का ध्यान ज्यादातर इस बात* पर रहता है कि जड और फूहड तुकबदियाँ कविता के शिल्प को कमजोर न करने पायें। इसलिए निष्प्राण तुको के बदले सजीव सार्थक तुको म किंचित हेर-फेर भी वे बीच बीच मे करते रहते हैं। जैसे 'सेब' का 'स्र् इचेव' और 'पानी' का तुक फानी' से मिलाकर सगीत से कही अधिक वे कविता के अर्थ की रक्षा करते हैं। इसी प्रकार कविता के ठीक बीचोबीच अन्त्यानुप्रासो की जमी जमायी महफिल उखाडकर नयी-तुक योजना का जायजा भी लेने लगते हैं—

नगे तरु हैं, नगी डालें
इन्हे कौन से हाथ सँभालें
खीझ भडकती, घुटती आहें
झेल न पाती इन्हें निगाहें
और इसके बाद अचानक—
कैसी थी लँगडी मनुहारें
कैसे इनकी सनक उतारें

जैसे तुको पर उतर आते हैं। कभी-कभी इससे भी बडी छूट वे लेते दिखाई देते हैं। जान पडता है एक ही कविता मे कवि कई-कई आवेगो से जूझ रहा है और विचारो की अलग अलग घुमडनो के चलते उसे बार-बार अपनी लय को बदलना पड रहा है 'रहे गूँजते वडी देर तक' कविता मे आखिर की पक्तियाँ तुक और लय की दृष्टि से प्रारम्भिक पक्तियो से प्रस्थान भेद रखती हैं। कविता की प्रारभिक पक्तियाँ इस प्रकार हैं—

सुने इन्ही कानो से मैंने तुतलाहट मे गीले वोल

तीन साल वाले बच्चो के प्यारे बोल : रसीले बोल
मेले नाम तेले नाम
बिए नाम बिए नाम
मेले नाम मेले नाम
बिए नाम बिए नाम

और आखिरी अंश की पक्तियाँ इस प्रकार हैं—

मैंने सोचा :
निर्मय होकर शोषण की बुनियादें ये खो देंगे
मैंने सोचा
बेबस बूढ़े विप्लवियो की कालिख यह धो देंगे

कविता मे जो स्थापत्य चला आ रहा था उसे कवि ने बेमुरौव्वती से तोड दिया है। इसी प्रकार दूसरी ओर ऐसी कविताएँ भी मिलती हैं जिनमे कवि बीच-बीच मे शास्त्रीय सगीत की मुरकी शैली का मोहक प्रयोग करता है और शब्द की छोटी-छोटी तानो के सहारे सारी कविता को रस और रग मे डुबो डालता है—

आ भी तो बता भी तो
लगे कुछ पता भी तो
या
हाय मन होय मन
चुपके क्या भागना
अकेले क्या जागना

नदी की अहरह गति मे बहती हुई कविता खूबसूरत भँवरजाल की तरह बीच-बीच मे ठहर कर नाचने भी लगती है।

बचपन गाँव मे बीता। उस वक्त हम बच्चे मिलकर एक गीत गाया करते थे खेल-खेल मे—

हाथी घोडा पालकी। जय कन्हैयालाल की।

नागार्जुन को पढते हुए वह इस रूप मे दुबारा मिला—

आओ रानी हम ढोयेंगे पालकी
यही राय है वीर जवाहर लाल की

आगे बढ़ा तो देखा कवि ने उसमे कुछ नया भी जोडा है—

आओ शाही बैण्ड बजायें
आओ वन्दन वार सजायें

परिचित लय के साथ यह नयी अभिवृद्धि काफी अच्छी लगी। लोक और शास्त्र, जीवन और प्रकृति के किसी भी सगीत को यह कवि अपने लिए मौजूँ मानता है। जरा मेघो का बजना तो देखिए—

धिन धिन धा धमक धमक
मेघ बजे

अम्बार मे चौबीसो घण्टे कमर तक झुकी है ? लेखक का मुख्य ध्येय हमारा मनोरजन है या हमारी सोई हुई, मूर्च्छित सवेदना को जगाना है ? अगर जगी हुई है तो उसे मोर्चे पर तैनात कर देना है।

नागार्जुन की कविता के दो मुद्दे बहुत साफ हैं, जिनमे से पहला है आम आदमी के प्रति उनका स्नेह। जनता, जो गांवो मे रहती है। कल-कारखानो मे काम करती है, हल जोतती है, रिक्शा खीचती है। सीधे-सीधे कहा जाय तो सर्वहाराओ का समाज, जिसे यह कवि अपनी समूची सहानुभूति देता है। दूसरा है—राजनीतिक और आर्थिक सत्ता के केंद्र मे बैठे हुए लोग। उनकी कविता इन दोनो ही क्षेत्रो मे समान अधिकार भाव से आती जाती है। यो तो वे मैथिली और सस्कृत मे भी लिखते हैं और भारतीय साहित्य अकादमी ने उनके मैथिली काव्य "पत्रहीन नग्न गाछ" को पुरस्कृत भी किया है। तब भी नागार्जुन को वृहत्तर जनजीवन से जोडने वाली उनकी कविता उस भाषा मे है जिसे इस देश के कोने-कोने मे बोलने वाले हैं। नमूने के तौर पर उन्होने कुछ प्रकृति सबधी कविताएँ भी लिखी हैं, जिनसे उनके गुरु गम्भीर पाण्डित्य और अभिजात सस्कृति की निकटता भी लक्षित होती है। पर वे नागार्जुन दूसरे ही हैं, जो आम आदमी के बीच जाने जाते हैं। ठाठ से कवि सम्मेलनो और लम्बे-चौडे समारोहो के बीच अपनी कविता को सुनाते हुए अपने श्रोताओ को विचलित और लहालोट भी कर डालते हैं।

सच्चाई यह है कि नागार्जुन का काव्य-व्यक्तित्व बहुरगी है और बडे जतन से सिरजा गया है। उनके आदर्श विद्यापति और निराला है। इसलिए क्लासिकल और रोमांटिक दोनो ही तेवर उनमे उपलब्ध होते हैं। "बादल को घिरते देखा है" जैसी कविताओ मे महाकाव्यात्मक औदात्य और गरिमा है तो प्रकृति और परिवेश को लेकर लिखी गई कई कविताओ मे वे आवेग समृद्ध और भावविह्वल दीखते हैं। सस्कारो और आधुनिकता का एक निहायत मीठा और तल्ख मिश्रण उनकी प्रतिभा मे है। इसलिए उन्हें किन्ही बाहरी दबावो के अकुश मे साध पाना किसी महत्वाकाक्षी के लिए सभव न हो सका। चाहे वह कोई साहित्यिक वाद हो चाहे राजनीतिक मतवाद। सबको पीछे छोडते हुए सबकी मर्यादाओ पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए वे टिटकारी मारकर आगे निकल जाते हैं।

इसे इन्कार करना गलत होगा कि नागार्जुन आवेग सम्पन्न कवि नही हैं। उनके कृतित्व का बहुलाश आवेग मूलक है। पर देखना यह है कि उस आवेग का सदर्भ क्या है ? क्या वह बच्चन आदि कवियो की तरह व्यक्तिगत सदर्भो से उपजा है या उसके सदर्भ कुछ दूसरे हैं ? क्या नागार्जुन इस आवेग का इस्तेमाल आत्मानुभूति के लिए करते हैं ? दोनो ही प्रश्नो के उत्तर नहीं' मे होगे। कविता का कोई व्यक्तिगत प्रयोजन नहीं हो सकता है, इसे नागार्जुन को पढकर जाना जा सकता है। खालिस बुद्धिजीवियो पर व्यग्य करते हुए उन्होने अपनी एक कविता मे लिखा है कि बुद्धिजीवी नाम प्राणी घनघोर एकातवादी और आत्मग्रस्त होता है और उसकी तमाम चिंता स्वय को लेकर होती है जबकि आम जनता फसलो के पाला मार जाने या मजरियो के अकस्मात झर जाने से परेशान रहती है। उन्होने ऐसे कवियो का उल्लेख किया है, जो केवल अपने काव्य

सकलन की बिक्री को लेकर बेचैन हैं जबकि सारा जनजीवन, जीवन-यापन की असुविधाओ मे ग्रस्त है। स्पष्ट है कि उनके यहाँ सर्वाधिक महत्वपूर्ण वह जनता है जो देश की भाग्य-विधायिका है। जो सीधे राष्ट्रीय उत्पादनो और विकास से जुडी हुई है। जो कर्मठ है। जिसके सक्रिय रहने से देश की ऊर्जा बढ़ती है और जिसके आपद्ग्रस्त होने पर राष्ट्रीय सकट पैदा होते हैं। उनकी कविता की असली निगाह यहाँ टिकी रहती है। इस जनता को देखते ही नागार्जुन पुलकित हो उठते हैं। ऐसे मे बुद्धि की वल्गा या तो छूट जाती है या जानबूझकर उसे ढील दे दी जाती है। "फटी बिवाइयो वाले पैर" हो या "बताशो मे घुलती हुई" चटकाल मजदूरो की हँसी हो'''*नागार्जुन अकेले कवि हैं जो अपने काव्य* की अनुदात्तता का ख्याल किए बिना इन्हें अकित कर लेते हैं। प्रेमचद ने यह कार्य अपने उपन्यासो मे पहले ही शुरू कर दिया था। निराला की कुछ कविताएँ भी हमे ऐसे लोगो की याद दिलाती हैं। नागार्जुन के काव्य की सारी सप्राणता यही से उठकर आती है। वे आज भी जनता से सबसे अधिक जुड़े हुए कवि हैं। आज भी गाँवो से उनका सीधा सपर्क है। कलकत्ता जैसे महानगरो मे आज भी उनकी रुचि इसीलिए अधिक है कि उपनगरो (सबरबन्स) की मेहनतकश आबादी से उनका रिश्ता तरोताजा बना रहे।

एक ऐसा कवि जिसका सारा काव्य सदर्भ वह जनता हो, जिसके हाथ हलो की मूठ पर और मशीनो पर हो, उसे *भीड़वादी कहकर यह टिप्पणी करना कि उसे सच्ची* जनवाहिनी की पहचान नही है, नव वामपथी कवि की किस सोच का परिणाम है, कहा नहीं जा सकता। शायद उसके गुरिल्ला युद्ध कौशल म नागार्जुन की यह जनता काम मे आने वाली नही है। पर उस जनवाहिनी का अता-पता दूर-दूर तक उन्हें भी नही है जो 'जगल की खूबसूरती को भेडिये की निगाहो' से बचाना चाहते हैं। ये भी अपने पाठकों को सम्बोधित हैं जो मध्यवर्ग या उच्चवर्ग का है और कविता सुन-पढकर उसे ठडा कर लेना जिसकी आदत है। इस वर्ग से जो उम्मीद आज की जा रही है, वह शायद ही कभी पूरी हो। इसलिए निराला ने भी जब क्रान्ति की बात कही तो 'क्षुद्र प्रफुल्ल जलज' या 'किसानो' के छोटे-छोटे बच्चों को सारा दारोमदार सौंपा। *नागार्जुन क्रान्ति की बात* नही करते। पर अपनी कविता मे 'तुच्छ समझे जाने वाले' लोगो को केन्द्रीय स्थान देते हैं—

> तुच्छ से अति तुच्छजन की जीवनी पर हम लिखा करते
> कहानी, काव्य, रूपक, गीत
> *क्योंकि हमको स्वय भी तो तुच्छता का भेद है मालूम*
> कि हम पर सीधे पडी है गरीबी की मार

वर्ण की दृष्टि से ब्राह्मण होते हुए भी वर्ग की दृष्टि से वे सर्वहाराओ मे से ही एक हैं और वे अपनी असली पहचान उसे ही मानते हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि नागार्जुन की कविता और उनके जीवन मे वह फाँक नही है जो इन तथाकथित उग्र और क्रान्ति-मुखी कवियो मे साफ-साफ दिखती है। *वास्तव मे नागार्जुन 'व्यवस्था' की शिकारी आँखो* से साफ-साफ बच निकलते हैं। जबकि हमारे ये नये क्रान्तिधर उसमे सुरग लगाने के ख्याल से उसी की गोद मे रहते हुए अपनी प्रतिज्ञा ही भूलकर लौटते हैं। नागार्जुन और

दोनो परस्पर विरोधी कथन नही है ? उनकी भाषा को घुमक्कड़ी कहना और भी मजे-दार है। क्या घूमते रहने से किसी की यह सहज उपलब्धि हो जाती है ? तो फिर अज्ञेय से ज्यादा घुमक्कड़ कौन हो सकता है ? केशवदास तो बैठे-बिठाए ही 'षड्भाषा' लिख गए। आलोचना को इस सरलीकरण तक पहुँचाकर क्या कोई सिद्धात निदर्शन किया जा सकता है ? मैंने पहले ही कहा है कि नागार्जुन कई भाषाओ के पण्डित हैं और सब पर उनका अधिकार है। लिखने के पहले वे तय करते हैं और यह सब करने मे उनके भीतर कोई असमजस नही रहता। उनकी दृष्टि निरतर उस माध्यम को सशक्त और सक्षम बनाने की रहती है जो उनके विचारो का सवाहक है। अगर उसकी सक्षमता ज्यादा जनवादी होने मे है, लोक प्रचलित और लोकोचित होने मे है तो वे उसी को अपनी कविता मे स्वीकारते हैं। वस्तुतः आज का कवि किसी एक लोक के भरोसे अपना कवि-कर्म सम्पादित कर भी नही सकता। उसे क्षण भर अपने माध्यमो की चुस्ती और धार की तेजी पर निगाह रखनी होती है। वह अपने अनुभवो की विविधता और बहु-रगीपन के साथ उस भाषा को भी ग्रहण करता है, जो उनके साथ चिपकी रहती है। नागार्जुन इस मायने मे काफी सजग और सग्राहक व्यक्ति हैं। उनकी कविता इसीलिए थोड़े मे बहुत के बदले बहुत मे बहुत की बात करती है। पर इसे शब्दो की फिजूलखर्ची नही कहा जा सकता। बजाय इसके उसे अधिक खुली हुई कविता कहना ठीक होगा। यो जहाँ वे व्यग्य करते हैं वहाँ ज्यादा चुस्त और चयन-सजग है पर आमतौर पर वे कविता को ज्यादा लोगो से बातचीत करने का एक जरिया मानते हैं। इस नाते वह गूढ़ और जटिल होने की जगह सरल और समझने योग्य हैं। वह सचमुच उस आम आदमी की कविता है जिसका काव्यशास्त्र ज्ञान कोरा है। जो इतनी भी फुर्सत मे नही है कि वह कविता को पढकर उसके अतर्वर्ती विज्ञान और प्रक्रिया के बारे मे सोच भी सके। यद्यपि सोचने को बहुत कुछ है। जैसे कि हमारे युग की कविता का आदर्श क्या हो ? क्या वह थोड़े से लोगो के लिए हो या वह और अधिक पाठक और श्रोता तैयार करे ? अगर वह सामाजिक नवनिर्माण मे भाग लेना चाहती है तो उसे अपने स्थापित तत्र से बाहर निक-लना होगा। भाषा और बिब की गूढता को तिलाजलि देनी होगी। अधिक परिचित और सार्थक सवाल चुनने होगे, जिससे आम आदमी की भागीदारी भी हो सके। कही ऐसा न हो कि वह चद बुद्धिजीवियो और धनाढ्यो के सज्जा कक्षो की 'चीज' बन कर रह जाय। आम आदमी से जुडने का एक ही जरिया है कि वह आदमी हमारे लेखन के बीच हो, हमे अपना लेखक माने और समझे भी। नागार्जुन एक ऐसे ही लेखक हैं और कोई भी विकासशील समाज ऐसे लेखक को लेकर गौरव अनुभव कर सकता है।

नागार्जुन के उपन्यास

नागार्जुन के अब तक कुल दस उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं—रतिनाथ की चाची, बलचनमा, नयी पौध, बाबा बटेसरनाथ, वरुण के बेटे, दुखमोचन, कुम्भीपाक, हीरक जयती, उग्रतारा और जमनिया का बाबा। गरीब दास (बाल उपन्यास) और अग्निपुत्र लिखे जाने की तैयारी मे हैं। उनकी कुछ कहानियाँ भी विशाल भारत, पारिजात (पटना), जोगी, ज्ञानोदय, कहानी तथा सारिका मे प्रकाशित हो चुकी हैं उपन्यास लेखन के पूर्व नागार्जुन ने कहानी पर अपने कथा-कर्म की परीक्षा लेनी शुरू कर दी थी। इसलिए यह नही कहा जा सकता कि वे सीधे उपन्यास लेखन मे ह प्रवृत्त हुए। 'असमर्थदाता' सन् 40 के विशाल भारत मे प्रकाशित हुई जबकि 'रतिनाथ की चाची' उपन्यास ठीक आठ साल बाद 1948 मे देखने मे आया। 'बलचनमा' मैथिली मे लिखा जाकर बरसो इस प्रतीक्षा मे रहा कि कोई उसे छापे। लेखक को स्वयी उसकारूपा न्तर खडी बोली मे करना पडा और मैथिली रूप सन् '67 म छपा। इसके पहले उनकी विशाखा मृगार माता, ममता, राज्यश्री और 'आसमान मे चदा तैरे' जैसी कहानियाँ लिखी जाकर छप चुकी थी। पाँचवें दशक मे नागार्जुन ने कुछ निबध, शब्द-चित्र और सस्मरण भी लिखे। सन् '44 में 'कौमी बोली' के कुछ अको का सम्पादन भी किया। उन दिना के लेखन को देखकर यह कहा जा सकता है कि वे सारे प्रयास अपनी स्थिति-स्थापकता के थे और लेखक बहुत ईमानदारी से गद्य की अनेक विधाओ पर जोर-आजमाइश कर रहा था। आज जब यह पुस्तक लिखी जा रही है, नागार्जुन एक प्रमुख कथाकार के रूप मे हमारे सामने हैं। यह सच है कि कविताएँ उन्होने काफी सख्या मे लिखी हैं और उनके विभिन्न कलात्मक स्तर भी हम वहाँ देखने को मिलते हैं, किन्तु उनके उपन्यासो का महत्त्व इससे कम नही हो जाता। समाज-सजग लेखक होने के नाते उनके ये उपन्यास हमारे सामाजिक और राजनीतिक जीवन के महत्त्वपूर्ण दस्तावेज कहे जा सकते हैं।

उनका सबसे पहला उपन्यास 'रतिनाथ की चाची' है, जिसकी मूल प्रेरणा स्वय लेखक के जीवन की कुछ मार्मिक घटनाएँ हैं जिन्हे उसने देखा ही नही भोगा भी है। भोगने के दौरान निरन्तर तनावो से गुजरा भी है। किन्तु उपन्यास लिखते समय वह तनाव-प्रदर्शन के बजाय उस समाज की असहिष्णुता और नयी सामाजिक सहानुभूति के आदर्श स्थापित करना चाहता है। 'गौरी' जो उपन्यास की नायिका है, एक विधवा ब्राह्मणी है जिसे अपने देवर जयनाथ की काम वासना के शिकार हो जाने के परिणामस्वरूप जीवन भर घर-परिवार की प्रताडना भुगतनी पडती है। महिलाएँ तो महिलाएँ, कोख के जाए बेटे तक इसके लिए उसे माफ नही करते। एक अकेला रतिनाथ है जिसके मन मे अपनी विधवा लाछित और अपमानित चाची के लिए भरपूर आत्मीयता और

आदर है।

यद्यपि यह नागार्जुन का पहला उपन्यास है किन्तु मैथिली समाज का बहुत प्रामाणिक और अतरग परिचय इसमे मिलता है। शुभकरपुर गाँव कथा के केन्द्र मे है जहाँ से राँची, तरकुलवा, मोतिहारी, भागलपुर और कलकत्ता के लिए रास्ते फूटते हैं। गाँव के लोग पढ-लिखकर अच्छी खासी नौकरियो मे चले जाते हैं किन्तु अपना दिमाग नही बदल पाते। विधवा जीवन की करुण गाथा को समझने की कौन कहे—उसके झनझनाते हुए दु खो के तारो को सुनने तक को कोई तैयार नही। सारा का सारा मैथिल जीवन अपनी सामती रूढियो और जडता मे सराबोर है। लेखक ने गौरी और विधुर देवर जयनाथ के काम सबध की चर्चा को एक सूक्ष्म घटना के रूप म प्रस्तुत किया है। किन्तु जिस वातावरण मे वह घटना हुई है, उसकी क्रिया प्रतिक्रिया का बहुत विस्तृत वर्णन किया गया है। भारतीय समाज मे स्त्री की दशा क्या है, इस पर प्राय सभी आधुनिक लेखको और कवियो ने विचार किया है। किन्तु उनका यह विचार शुद्ध सैद्धातिक और कलात्मक है। प्रेमचन्द और जैनेन्द्र जैसे लेखको ने अपनी कुछ कृतियो मे इसे प्रामाणिक मार्मिकता देने की कोशिश की है। किन्तु वे ठोस सामाजिक कारणो को उनके ऐतिहासिक और सामाजिक परिप्रेक्ष्य मे पकडने म या तो रुचि नही रखते या फिर उस ओर उनका ध्यान ही नही जाता। सेवासदन, निर्मला, त्यागपत्र और सुनीता जैसे उपन्यासो मे भारतीय नारी के सामाजिक इतिहास की वह पूर्व भूमिका गायब है, जिस नागार्जुन ने अपने उपन्यास म बखूबी पकड़ने की कोशिश की है। जातियो के आपसी रिश्ते, मैथिलो की बहु-विवाह प्रथा, पुरोहितो जमीदारो की साँठ गाँठ, हिन्दू समाज की कट्टर जातीयता, महाभोज, उनके खान पान, आम मछली और तालमखानो का रोचक वर्णन। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो पता लगेगा कि लेखक की मूल दृष्टि आँचलिकता को उभारने की न होकर ग्रामीण समाज के उस जरूरी डीटेल्स को जुटाना है जिसम हमारे समाज म व्याप्त भयकर सामाजिक रोगो—जाति-अहकार पुरुषो की स्वच्छन्दता, विधवाओ का नारकीय जीवन, उच्चवर्गों एव सामतो का प्रच्छन्न भ्रष्टाचार—की एक मानक तस्वीर हमे मिल सके। ग्रामीण समाज के कुछ प्रमुख घटक इस उपन्यास म मौजूद हैं—भोला पण्डित, दम्मो फूफी, रायबहादुर दुर्गानदनसिंह, पर सौनी गाँव की सुशीला (काशी निवास करने वाली विधवा) और निम्नमध्यम जाति का कुल्ली राउत। और बुधना चमार की औरत भी जो गर्भ गिराने मे उस्ताद मानी जाती थी। नागार्जुन ने जातियो की उच्चता पर लानत भेजते हुए मानवीय सवेदना की जो झलक उस चमाइरिन म देखी है वह अन्य किसी पात्र म दुर्लभ है—'एक बात कहती हूँ, माफ करना, बडी जातवालो की तुम्हारी यह बिरादरी बडी मलिच्छ, बडी निठुर होती है, मलिकाइन। हमारी भी बहू बेटियाँ राड हो जाती हैं, पर हमारी बिरादरी मे किसी के पेट से आठ-आठ नौ-नौ महीने का बच्चा निकाल कर जगल म फेंक आने का रिवाज नही है। ओह, कैसा कलेजा होता है तुम लोगो का, मइया री मइया।"

लेखक ने बडी जातवालो की इस स्थिति-कायरता और पाखण्ड प्रतिष्ठा के पीछे छिपी हुई करुण-क्रूरता को भी देखने की कोशिश की है। गौरी की माँ गर्भस्थ शिशु के

बारे में सोचती है—"ओ अभागे, तुम्हारा क्या कसूर? यही चमाइन तुम्हें गाँव के बाहर झुरमुट के अन्दर डाल आयेगी। फिर कुत्ते और सियार नोच-नोचकर तुम्हें खायेंगे। जैसे और बच्चे अपनी माँ के पेट से समय पर बाहर आते हैं, तुम उस तरह समय पर गर्भ से बाहर नहीं निकल सकते। तुम्हारे जन्म से प्रसन्न हो सोहर गाए, ऐसी एक भी औरत नहीं होगी'''।"

हमारा भारतीय समाज आज भी इन स्थितियों से उबर नहीं सका है। आज भी वह उतना ही दकियानूस और रूढ़ि प्रेमी है। किन्तु लेखक की आस्था 'रतिनाथ' जैसे तरुण चरित्रों पर टिकी हुई है, जो कार्य कारण की शृंखला को देखते हुए सही मानवीय संवेदना को बचाए रख सकते और सामाजिक वेदना के हिस्सेदार बने रह सकते हैं। गौरी की मूक वेदना का ज्वालामुखी इसीलिए रतिनाथ के कण्ठ से फूटता है।

इस उपन्यास में सामाजिक संवेगों की उपस्थिति के साथ-साथ वर्णन-चित्रण और काव्यात्मक प्रसंग-निरूपण भी विद्यमान है। ऐसा नहीं लगता कि यह किसी लेखक का पहला उपन्यास है।

बलचनमा उनका दूसरा उपन्यास है जिसमें आत्मकथात्मक शैली अपनायी गई है। एक शोधकर्ता के अनुसार 'होरी' ने बलचनमा के रूप में पुनर्जन्म प्राप्त किया है। वस्तुस्थिति जबकि यह है कि 'बलचनमा' नागार्जुन का आदर्श-पुत्र है। 'होरी' प्रेमचंद का आदर्श नहीं है। किसान जीवन का यथार्थ है। भारतीय किसान अपनी सारी सामान्य इच्छाओं और दारुण विवशताओं के साथ होरी में उपस्थित है। प्रेमचंद अपने अनुभव और प्रौढ़ लेखन के माध्यम से उसे एक बृहत्तर और प्रामाणिक स्वरूप देने में सफल हो सके हैं। नागार्जुन का मुख्य लक्ष्य किसान की राजनीतिक और सामाजिक जागरूकता दिखाना है। बलचनमा नारे लगता है—"जमीन किसकी—जोते बोये उसकी।" स्पष्टतः नागार्जुन अरसे तक किसान आन्दोलन से जुड़े रहे हैं। गाँवों के गरीब और निम्न (शूद्र) जातियों की सामाजिक और आर्थिक गिरावट को नजदीक से देखा है, खुद भी गरीबी की मार सही है, इसलिए उनके इस उपन्यास में सैद्धांतिक मार्क्सवाद भर नहीं है। गरीबी की मार सहने वाले एक लेखक का प्रत्यक्ष समाज वैषम्य बोध भी है। इसी बोध ने उसे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तक पहुँचाया है। मार्क्सवादी दृष्टि से सम्पन्न होने के कारण वह शोषण, अनाचार, अनैतिकता की तस्वीरें अधिक सुविधापूर्वक न केवल खींच सका है, बल्कि उनके पीछे निहित विचारों की टीका कर सकने में भी कामयाब हुआ है। लेखक हजारों सालों से चुप्पी साधे, सामंती अत्याचारों और रूढ़ियों के शिकार लोगों को उनके अधिकारों के प्रति सचेत करता है, एकजुट होकर लड़ने और जय यात्रा में शामिल होने की प्रेरणा देता है। प्रेमचंद के यहाँ व्यवस्था का भीषण अटूट आतंक है। होरी, हल्कू, घीसू, माधव सब उसमें मर-खप रहे हैं। पता नहीं चलता उनमें राजनीतिक जागरूकता का प्रवेश कब होगा। कब वे अपना मोर्चा बनायेंगे। बनायेंगे भी या नहीं। नागार्जुन इस सवाल के स्पष्ट उत्तर हैं। प्रेमचंद ने गाँवों की यथार्थस्थिति का गम्भीर और सूक्ष्म वर्णन किया है, अपनी ही भाषा में। नागार्जुन ने उससे आगे बढ़कर बलचनमा, मंगल-मधुरी, मोहन माँझी, जीवनाथ जैकिसुन आदि के माध्यम से उस यथार्थ से निपटने

का रास्ता सुझाया है। हिन्दी के कई आलोचक उन्हें सुधारवादी-कम-यथार्थवादी कहते हैं। कुम्भीपाक, बाबा बटेसरनाथ, दुखमोचन, उग्रतारा जैसे उपन्यासो मे उनका यह रूप देखा जा सकता है। निश्चय ही नागार्जुन के उपन्यासो मे ऐसी स्थितियाँ कल्पित हैं जिनमे सुधारवाद क्या गांधीवाद तक खोजा जा सकता है। 'रतिनाथ की चाची' मे गौरी चर्खा कातती है। कुम्भीपाक मे चम्पा स्वावलबन की राह पकड शिल्प कुटीर स्थापित करती है। देखने वालो ने ये गाँधीवादी दृश्य क्यो नही देखे। तब शायद उन्हें यह भी पता चलता कि नागार्जुन की मनोरचना गाँधी युग मे हुई। किसान आन्दोलनो मे समाजवादियो के साथ उन्होने काम किया है। प्रारभिक दिनों मे उदारमना सुधारवादी आर्यसमाजी नेताओ के सम्पर्क मे भी आए हैं। और फिर धीरे-धीरे मार्क्सवादी विचारो तक पहुँचे हैं। लेखक के नाते वे आज भी इस सस्कार-यात्रा को जिन्दा रखे हुए हैं। सामती व्यवस्था की बहुत सारी बाते उन्हे अब भी उपयोगी लगती हैं। अब भी उनके पात्र अपना हृदय खोलकर मिलते-जुलते हैं। इसलिए वे सबसे अधिक जिस चीज से प्रभावित होते है, वह शक्ति है 'संघर्षशील जनता का विपन्न बहुलाश।' "कोटि-कोटि भारतीयो के निरीह, पिछडे हुए, अकिंचन, दुर्बल समुदाय" जो आज भी अपने अधिकारो का उपयोग नही कर पाता। एक लेखक के नाते वे आंचलिक-अनांचलिक, यथार्थवादी—अयथार्थवादी, सुधारवादी, आलोचनात्मक जैसी सज्ञाओ पर ध्यान देने के बजाय उस पूर्ण दृश्य पर अपनी निगाह टिकाए रहते है जिसे शताब्दियो के इतिहास ने हमे सौंपा है। यथार्थवादी के खूंटे से बंधे हुए अधे बैल वे नही है। पहले भी कह चुका हूँ कि उनका लेखन किताबो के अध्ययन का सुपरिणाम नही है। देखे और जिये हुए जीवन की देन है। इसलिए वे उस जनता को हमारे सामने लाते है जो न तो पूरी तरह सामती है, न पूरी तरह पूंजीवादी, न ही मार्क्सवादी। इतने कठमुल्ले और दृष्टिहीन नही है कि ऐतिहासिक देनो को नजरन्दाज करते चलें। उन्होने लिखा है—"जब कभी मैं ग्रामाचलो के किनारे-किनारे बसी हुई दलित बस्तियो के अन्दर अथवा महानगरो के पिछवाडे गदे नालो के इर्द-गिर्द बसी हुई झुग्गियो की दुनिया मे जाता हूँ तो सुविधा प्राप्त वर्गों द्वारा परिचालित राजनीति के प्रति मेरा रोम-रोम नफरत मे सुलग उठता है।

"ऐसा नही कि मैं सुविधा प्राप्त वर्गों के प्रति सारा दिन-सारी रात, बारहो महीने, साल-दर-साल निरन्तर नफरत मे ही सुलगता रहता हूँ। सनातन काल से हमारी इस भूमि को प्रकृति का विशेष वरदान प्राप्त रहा है। सनातन काल से सुविधा प्राप्त एव उच्च वर्गों के भी सहृदय और ईमानदार व्यक्तियो ने जनसाधारण के दुःख-सुख को निश्छल तौर पर अपनी प्रतिभा का आलम्बन बनाया है। वाल्मीकि, कालिदास, तुलसीदास, रवीन्द्र, प्रेमचद उन्ही मे से रहे हैं। भाषा का विकास, साहित्य का विकास, ललित कलाओ के आविर्भाव और अग्रगति, समग्र मानवता को आगे बढाने वाले शिल्प, दस्तकारियाँ, खेती-बाडी और बागवानी के चमत्कार···ढेर···सारी स्थापत्य सृष्टि, रसायनिक उपलब्धियाँ, खनिज धातुओ के उपयोग, परस्पर की सुरक्षा और दुष्ट दलन के लिए अमोघ अस्त्र-शस्त्र···अर्थात् मानव जीवन को बेहतर बनाने के हजार-हजार तरीके हमारे उन्ही पूर्वजो की देन हैं जिन्होने दुर्दान्त प्रकृति को समय-समय पर नाथा था

और जो न तो कामचोर थे और न जन सामान्य के सौभाग्य को हड़पने वाले। निःसन्देह महाजनी सभ्यता के गलित कुष्ठ से हमारे इन पूर्वजों के दिल और दिमाग दूषित नहीं हुए थे। वराहमिहिर और आर्यभट्ट, चरक और सुश्रुत कौन थे ? हमारे ही पूर्वज तो थे। अपने इन पूर्व पुरुषों के प्रति मेरा मस्तक हमेशा झुका है।" इस सन्दर्भ में मुझे अनिल सिनहा जैसे उपन्यास आलोचकों का यह वक्तव्य काफी हास्यास्पद लगता है कि "वे जिस सचेतना से अपने उपन्यास को प्रारम्भ करते हैं, उसकी तीव्रता महसूस नहीं कर पाते और कभी प्रगतिवादी, कभी सुधारवादी, कभी यथार्थवादी होकर रह जाते हैं।" सिन्हा जी के इस वक्तव्य का उत्तर प्रसिद्ध लेखक जूलियन ग्रीन के इस कथन में मिल सकता है "मैं स्वीकार करता हूँ कि इन प्रकार के उपन्यासों की रचना करने की अचूक विधियाँ हैं जिनको अपनाकर धन प्राप्ति की जा सकती है, किन्तु मैं कभी भी यह स्वीकार नहीं कर सकता कि कोई भी जन्मजात उपन्यासकार इस प्रकार की यान्त्रिक विधियों में रुचि लेगा। बहुत कम उपन्यासकार विशुद्ध कलात्मक दृष्टिकोण से इतने अकुशल रहे हैं जितने कि बाल्जाक, रामिली ब्रान्ट, मानरेड या मारसेल प्राउस्ट थे। इनमें से प्रत्येक का एक से अधिक उपन्यास सिद्ध करता है कि वे उपन्यास रूपी घड़ी के कुशल घड़ीसाज नहीं थे। फिर भी उनके उपन्यासों और रचना चातुर्य से युक्त तथा कथित सफल उपन्यासों में हम मानव हृदय का जीवित स्पन्दन मिलता है, वहीं दूसरे प्रकार के उपन्यासों में केवल घड़ी की धीमी-टिकटिक ही सुनाई देती है।

मानव हृदय के स्पन्दन की ध्वनि बड़ी ही अद्भुत है। इसे हम जीवित ग्रन्थों में ही प्राप्त कर सकते हैं। जीवन हीन ग्रन्थों में मात्र अनुकरण के आधार पर हम इस स्पन्दन को उत्पन्न नहीं कर सकते। जीवन-युक्त ग्रंथों की रचना मात्र नियमों के आधार पर नहीं होती।" इसी तरह किसी लेखक का महत्त्व सिर्फ इसलिए नहीं बढ़ जाता कि उसने अमुक या तमुक कला-नियम को पूरी तरह कृति-सिद्ध कर दिया है। उसकी महत्ता इस बात से सूचित होगी कि वह अपने युग को उसके पूरे स्पन्दन के साथ पकड़ सका है या नहीं। अमृतलाल नागर के उपन्यासों में यह स्पन्दन पूरी स्वाभाविकता के साथ विद्यमान है जबकि इस प्रकार की कोई मोटी संज्ञा उन पर चस्पा नहीं की जा सकती। भारतीय जीवन के नये-पुराने मूल्यों की कशमकश में भी उन्हें जीवंत और सार्थक तत्व दिख ही जाते हैं और आशावादी जाति की भविष्य-निष्ठा भी प्रकट होकर रहती है। नागार्जुन की प्रगतिशीलता और यथार्थ को भी इसी बिन्दु पर देखना पड़ेगा। एकबार एक आलोचक ने प्रेमचंद के बारे में कहा था—' वे अपने समय के साथ भी थे और उससे दस कदम आगे भी।" युग की संवेदना कोई सीधी-सरल रेखा नहीं हुआ करती। न ही कोई कृति इस रेखा को दिखाने की कोशिश ही करती है। एक एक चरित्र में जैसे हजार-हजार चरित्र छिपे रहते हैं, वैसे एक-एक पात्र में कई-कई विलक्षण मानवीय विशेषताएँ अपनी तमाम कमियों के बावजूद दिखती रहती हैं। नागार्जुन मानव-स्वभाव की इस सहज स्वाभाविकता पर भी अपनी नजर रखते हैं और उस गंतव्य पर भी जहाँ कि उन्हें पहुँचना है।

डा० बच्चन सिंह ने अपने इतिहास में ग्राम कथाकार की श्रेणी में रखते हुए उन्हें

प्रेमचद और यशपाल परम्परा की मध्यभूमि पर प्रतिष्ठित करना चाहा है। डा० रामविलास शर्मा ने तो उन्हें 'ग्राम कवि' की सज्ञा ही दे डाली है। मेरे लिए ये सज्ञाएँ बहुत महत्त्वपूर्ण इसलिए नही हैं, क्योकि इससे लेखक की सीमाओ और दायरे का बोध तो होता है, पर अपनी समग्रता मे वह बिल्कुल छूट जाता है। नयी पौध, पारो, वरुण के बेटे, उग्रतारा आदि उपन्यासो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वे हमारे समाज के उन कोढो और कलको को पकडते है जो बरसो से हमारी चिंता के कारण बने हुए हैं। अनमेल विवाह क्यो होते है ? और क्या गाँवो म ही ये घटनाएँ घटती है ? नयी सामाजिक मर्यादाओ का विरोध और समर्थन करने वाले लोग क्या शहरो से गाँवो तक एक साथ नही फैले हुए है ? नागार्जुन ग्राम कथाकार न होकर भारतीय समाज के कथाकार हैं। वे अपने उपन्यासो मे आर्थिक और सामाजिक समस्याओ को उनकी जटिल सश्लिष्टता मे उठाते है। जरा पारो' का यह अश देखिये—

"—चतुर्थी के रात म दस रुपय के दस नोट मेरे आगे फैलाते हुए उन्होने कहा था—और चाहिए तो वैसा कहिए ? क्रोध से मै जलने लगी। हे भगवान ! लाख दण्ड दें मगर फिर औरत बनाकर इस देश म जन्म नही दें— छौआ। पैंतालीस बरसो का नरपिचाश एक अबोध लडकी के सामने दस रुपयो के नोट का पधार इसलिए लगावे कि···

मैने पारो का मुँह बन्द कर दिया। बस, बस, अब जो अधिक तुमने कुछ कहा तो मैं चला जाऊँगा, हाँ।

उसने मुँह को छुडा लिया और ओसारे पर जाकर बैठ गयी। थोडी देर बाद देखा तो आँसू की धारा दोनो गालो पर चाँदनी म दमक रही थी।' पृ० 45.

नागार्जुन अपने इन कथनो के लिए कथाएँ ग्रामीण परिवेश से जरूर चुनते हैं किन्तु वे समस्याएँ सिर्फ गाँवो से सबधित नही होती। शिवप्रसाद सिंह की 'अलग-अलग वैतरणी' जैसे उपन्यास 'ग्राम जीवन' को केन्द्र म रखकर लिखे गए हैं, जहाँ लेखक की मुख्य चिंता गाँवो के अस्तित्व को लेकर है। नागार्जुन गाँवा की अस्तित्व चिन्ता से ग्रस्त या पस्त नही है। वे रूढिवादी, पुरातनवादी, दकियानूस सामाजिकता के विरोधी शिविर के लेखक हैं जिनके गाँव राजनीतिक और सामाजिक नवजागरण से सम्पन्न हैं। इसलिए वे स्त्रियो, शूद्रो, मजदूरो, छोटे किसानो की एक आत्मसमर्थ दुनिया रचने का उपक्रम करते दिखाई देते है— नयी पौध' मे गाँव के बडे बूढे तो 'बिसेसरी' के अनमेल विवाह का समर्थन करते हैं किन्तु युवा पीढी उसका विरोध ही नही करती बल्कि बिसेसरी का विवाह वाचस्पति नाम के एक नवयुवक से करा देती है। इसी प्रकार दुखमोचनर और उग्रतारा मे नागार्जुन की क्रातिकारी सामाजिकता के लक्षण हमे माया और कपिल, उग्रतारा और कामेश्वर के विधवा-विवाह मे मिलते है। असल म नागार्जुन की सामाजिक चेतना ऐतिहासिक परिस्थितियो की दन है न कि राजनीतिक विचारधाराओ की। हाँ, राजनीतिक विचार उनकी सामाजिक चिन्तना को बल पहुँचाने का कार्य अवश्य करते हैं। साथ ही यह सच भी स्वीकार करना चाहूँगा कि 'बाबा बटेसरनाथ' और 'दुखमोचन' मे सामाजिक आर्थिक मुद्दो से निपटने के लिए राजनीतिक सघर्ष शैलियो का उपयोग भी उन्होने किया है। उनक गाँवो मे अखबार भी आते हैं। रेडियो भी सुने जाते

हैं। किसान सभाएँ भी सगठित होती हैं, माझी सघ भी बनता है। उनके गाँव स्वावलम्बी भी हैं और अपने अधिकारो के प्रति सचेत भी। लीडर भी वे अपने खुद पैदा करते हैं।

विचारो स तो यह लेखक कम्युनिस्ट है किन्तु अपनी कृतियो म इसकी निकटता समाजवादियो के प्रति ज्यादा दिखाई देती है। वरुण के बेटे' म मोहन माँझी जैसे कामरेड भी है पर बलचनमा म राधे बाबू, शर्माजी और डा० रहमान आदि समाजवादी हैं। यही वह जगह है जहाँ नागार्जुन अपन प्रशसको और पाठको म यह भ्रम भी पैदा कर सकते हैं कि वे लोहिया-जे० पी० के ज्यादा निकट हैं या लेनिन माओ के। आजादी पूर्व का किसान आन्दोलन समाजवादियो के नेतृत्व म था। इसलिए नागार्जुन का झुकाव उस ओर भी रहा। किन्तु किसाना मजदूरा, शोषितो और पीडिता के लिए जो भी दल काम करे वे उसके साथ हो लेते हैं। कबीरदास की तरह वे दल विशेष की जात पूछने के बजाय उसका काम देखते हैं। कामरेड होना भर उनके लिए पर्याप्त आश्वस्तकारी नही है। उनकी निगाह आचरण पर भी बनी रहती है। इसीलिए कोई भी दल कभी भी उनकी कसौटी पर खरा नही उतर पाता। राजनीति आज साध्य बन गई है। इस क्षेत्र म काम करने वाले लोगा को अभावग्रस्त जीवन जीनेवाल मजदूरो और किसाना की चिन्ता नही रह गई है। वे अपने ही स्वार्थ साधन म लगे हुए हैं। हीरकजयती क पाठक जी की आत्मा धिक्कार रही है —'क्या अपनी ही खुशहाली पर तुम्हारा ध्यान केन्द्रित रहेगा ? अवाम की पामाली क्या तुम्हारे होठो पर ही थिरका करेगी ? (पृ० 92)

इससे जुडी हुई दूसरी कौम है व्यापारी की। अग्रवालजी सेठपूनमचद जी से कहते हैं—'सुनिये सेठ पूनमचद जी, कल भी हम अनाथ और बेसहारा नही होगे। भविष्य स घबराने की जरूरत नही कल भी हमारी मौज थी, आज भी हमारी मौज है, कल भी मौज रहेगी और परसो भी '(पृ० 96) ये दोना ही वर्ग खुलकर जनता को लूट रहे हैं। ऐसे मे क्या आज का लेखक हाथ पर हाथ धरे बैठा रहे ? क्या वह दलगत विचारों का तेली का बैल बन जाय ? सर्वग्रासी राजनीति के इस माहौल म एक राष्ट्र प्रेमी लेखक के लिए यह एक दुखद खतरा है कि वह किसकी पीठ थपथपाए और किसे गालियाँ दे ? सारे कुएँ म ही तो भाँग पडी हुई है।

पहली बात तो यही कि क्या नागार्जुन जैसे लेखको को पार्टी लखक कहा जा सकता है ? क्या वे पार्टी प्रचारक हैं ? उत्तर होगा—नही। वे इस देश म गोर्की की भूमिका निभाना चाहते है। पार्टी चाहे तो उन्हें अपना लखक मानने का मुगालता पाल सकती है। पर यह किसी भी पार्टी का भोलापन ही होगा। जनता पार्टी के शासन काल मे एक वरिष्ठ मत्री ने एक वरिष्ठ कवि की प्रशसा करते हुए शाबाशी देनी चाही थी, क्योकि उक्त कवि ने आपातकाल के दिनो म विरोधी सरकार की खिलाफत की थी। कवि ने मुस्कराते हुए जवाब दिया था — हमारा कोई ठिकाना नही, हम कब किसके बारे मे क्या कहने लग जायें। कोई भी सरकार हो अगर वह जन विरोधी रवैया अपनाती है तो हम उसकी तारीफ तो नही ही कर सकते।' राजनीतिक दृष्टि से सजग लेखक की यह पहली जिम्मेदारी है कि उसकी प्रतिबद्धता जनता के प्रति है न कि जन-

वादी मुखौटे वाली राजनीति के प्रति। नागार्जुन ऐसे ही लेखक हैं।

यह प्रश्न भी उठाया जा सकता है कि क्या कोई उपन्यास-लेखक किसी सिद्धात-विशेष के प्रतिपादन के लिए अपनी कलम उठाता है या उसका मुख्य ध्येय अपने समय के जीवन को उसकी समग्रता मे प्रस्तुत करना है ? नागार्जुन इस दृष्टि से एक सचेत कलाकार है। उनके उपन्यास नये भारत की स्वातन्त्र्योत्तर अपेक्षाओ के सन्दर्भ मे लिखे गए हैं। साधारण आबादी को लेकर उनके मन मे कुछ सपने हैं और वे तभी पूरे होगे जब उक्त जनता खुद उनके लिए सचेष्ट होगी। दूसरो के बूते पर आम जनता का स्वर्ण युग नही आ सकता। बाबा बटेसर नाथ जैकिसुन से कहते हैं—

"राजाओ, पुरोहितो, सामतो, सेठो और तीर्थंकरो की बातो का बढा-चढाकर बखान करने वाले बहुत सारे विद्वान सुदूर अतीत की उन क्रूर घटनाओ पर अब भी पर्दा डाले हुए हैं, वह उन लोगो के लिए अब भी सत्ययुग है, स्वर्णयुग है। साधारण जनता का स्वर्ण युग तो अभी आने वाला है बेटा। (पृ० 70) मध्यकाल तक जिस प्रकार हमारे चिन्तन की धुरी धर्म-आधारित थी, उसी प्रकार आधुनिक युग की धुरी राजनीति आधारित है। राजनीति से बचकर निकलने वाली कलम हमारे युग की कलम नहीं हो सकती और चाहे जिस युग की हो। हरिशकर परसाई का यह कथन मुझे महत्त्वपूर्ण लगता है कि राजनीति हमारी नियति तय कर रही है। अत मथरा की तरह यह नही कहा जा सकता कि "कोउ नृप होहि हमैं का हानी।" नागार्जुन राजनीतिक दृष्टि से न केवल सजग लेखक हैं बरन उनकी अपनी समझ और धारणा भी है। बाबा बटेसरनाथ, वरुण के बेटे, दु खमोचन जैसी औपन्यासिक और निराला जैसी आलोचनात्मक कृतियो मे उनकी राजनीतिक दृष्टि का अदाज हमे मिल जाता है। एक सीमा तक वे गांधी के प्रशसक हैं। क्योकि वे जन नेता के रूप मे जनता मे राष्ट्रीय राजनीति का प्रसार कर सकने मे कामयाब हो सके हैं, किन्तु गाँधी के हृदय-परिवर्तनवाद और जे०पी० के ढुलमुलपन मे उनका भरोसा कतई नही है। यहाँ वे हँसिया हथौडा वाले मोहन माँझी की पीठ थपथपाते हैं। जनसघर्ष की राजनीति ही उनकी अपनी राजनीति है।

'बाबा बटेसरनाथ' नागार्जुन का आत्मप्रक्षेपण है। ग्रामीण परिवेश मे जिस स्वप्न कथा का सहारा लेकर वे आजादी के आस-पास का परिवेश हमारे सामने प्रस्तुत करते है उसमे गांधी के साथ-साथ, समाजवादी, मार्क्सवादी और क्रांतिकारी गतिविधियो की हलचल भी शामिल है। किन्तु उनका प्रतिनिधि चरित्र 'जीवनाथ' गांधी और मार्क्स के क्रमिक विकास सोपानो का सटीक उदाहरण है। सवाल यह भी उठाया जा सकता है कि क्या नागार्जुन उपन्यास के बहाने एक खास समय की राजनीति को हमारे सामने पेश कर रहे हैं ? क्या भीतरी तौर पर उनकी रुचि इतिहास लेखन की ओर है ? इतिहास और राजनीति या राजनीतिक इतिहास को प्रस्तुत करते हुए लेखक नयी पीढी को वह पृष्ठभूमि देना चाहता है जिसके सहारे हमारी समकालीन राजनीतिक चेतना का विकास हुआ है। यही वह बिन्दु है जहाँ वह नये युग के व्याख्याकार के रूप मे हमारे सामने है। सतयुग की व्याख्या करते हुए वह इतिहास के उन पक्षो की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है जिनपर अब तक निगाह ही नही गई थी हमारी। और फिर उसका यह कथन कि असली

स्वर्णयुग (सतयुग) तो अभी आनेवाला है, वस्तुतः हमारी जातीय दृष्टि को अतीत से मुक्त कर भविष्य से जोडने का काम करती है।

क्या नागार्जुन का यह राजनीतिक इतिहास मात्र सिद्धात कथन है ? या उसके भीतर वास्तविक जीवन का स्पदन भी है ? बाबा बटेसरनाथ ने अपने आत्मकथात्मक प्रसग मे कुछ बहुत ही मार्मिक और कोमल प्रसग जैकिसुन को सुनाये हैं—"चौदह-चौदह, सोलह-सोलह साल की लडकियाँ उचक-उचकर बाड के अदर हाथ डालती। अपनी खुर-दरी हथेलियाँ वह मेरे तन पर फेरा करती, कडी उँगलियों से पत्ते हलराती और छूती। प्यार और ममता भरी उनकी वह कडी परस मेरे लिए सजीवनी सुधा थी। नया टूसा फूट निकलता तो मुझे खुद उतनी खुशी नही होती जितनी कि बस्ती रूपउली की उन अल्हड चरवाहिनो को।" पृ० 35

हिन्दी उपन्यासो की आधुनिकता पर विचार करते हुए ऐसा लगता है जैसे उसका कोई भी रिश्ता इस दुनिया से नही है। बटेसरनाथ के माध्यम से युगव्यापी राष्ट्रीय सघर्ष की निरन्तरता की जो कथा कही गई है, वह समकालीन आदमी और प्रकृति की गहरी अतरगता के बीच विकसित हुई है। बहुतेरे आधुनिकतावादी लेखक प्रसाद और प्रेमचद की इस शक्ति को पुरानेपन के नाम पर नमस्कार करके जाने कहाँ के कहाँ पहुँच गए हैं। नागार्जुन के उपन्यासो मे पेड-पौधो, नदियो, तालाबो, ऋतुओ, मौसमो की बडी मीठी याद अकित है। उनके सघर्षशील पात्र इसी निसर्ग वातावरण मे अपना विकास करते दिखाई देते है। 'वरुण के बेटे' म इस प्रकार की एक अच्छी खासी दृश्यावली हमे मिलती है। वह केवल मछुआरो की सघर्ष-कहानी भर नही है, उनकी जीवन-कहानी भी है। गरीबी की कठिन शीत मे नेह छोह की उष्ण चाँदनी रातें और गँवई जीवन की भोली-भाली बातो के बीच आत्म सम्मान और साहस से भरे अनुष्ठान हमे देखने को मिलते हैं।

इन उपन्यासो मे सबसे महत्त्वपूर्ण बात ग्रामीण चरित्रो की उस शक्ति की पह-चान है जो 'होरी' से कही अधिक धनिया म थी। चम्पा, भुवन, मधुरी, उग्रतारा मे जो कठोर सकल्प और आत्मनिष्ठा मिलती है वह 'धनिया' (गोदान) का ही विकसित रूप है। नागार्जुन के नारी पात्र ज्यादा दुस्साहसिक और बोल्ड है। स्त्री स्वाधीनता के नाम पर वे भीख माँगते नही दिखते। बल्कि 'मधुरी' के रूप मे वे अन्याय सहिष्णु और पुरुषो को ललकार कर आगे खीचते हैं। नारी चरित्रो की नेतृत्व प्रखरता नागार्जुन की अपनी देन है। अगर वे गाँव के न होते तो शायद यह बोध उनकी कलम तक पहुँच भी नही पाता। उग्रतारा मे नर्मदेश्वर की भाभी दीप्त स्वर मे कहती है—'*सुन्दरपुर-मढ़िया के नौजवान गोबर हैं, ऐसा गोबर जिस पर उँगलियाँ रखो तो काठ बनेंगे, कडे नही।*"

× × "बडी उम्र के दो छिनाल पुरुषो की करतूतो पर प्रकाश डालते समय नर्मदेश्वर एक बार बोला था—"भाभी, पिस्तौल का लाइसेंस लेना चाहता हूँ।" इस पर वह खिल-खिला कर हँसी थी। रुककर कहा था—' पिस्तौल क्या करोगे ? छिछोर मन का इलाज कारतूस की पेटियो से नही होगा। स्त्री-पुरुषा मे समान रूप से समझदारी पैदा होगी और मनोरजन के कई साधन निकल आयेगे तभी व्यभिचार घटेगा। देहात मे खाते-पीते परिवारों

के अघेड भारी मुसीबत पैदा करते हैं। उगनी जैसी लडकियों के लिए ज्यादा सकट उन्ही की तरफ से आता है। दूसरा सकट है डरपोक नौजवानो की छिछली सहानुभूति। इन सकटो का मुकाबला हम पिस्तौल से नही कर सकते "(पृ० 33) नर्मदेश्वर की भाभी की पहल पर ही कामेश्वर और उगनी विवाह सूत्र म वंधते हैं। कुम्भीपाक मे निर्मला (कम्पाउण्डरनी) भुवन को बुला के नरक से मुक्ति दिलाकर रजना के पास भेज देती है और अनाथाश्रम के माध्यम से जवान लडकियो का व्यापार करने वाले बी० एन० शर्मा जैसे लोग टापते रह जाते हैं।

नागार्जुन की ये महिलाएँ भले ही कही-कही काम-दुर्बल दिखाई दें पर विचार-दुर्बल वे कतई नही हैं। प्रसाद के नारी पात्रो की तरह उनम सामाजिक अग्रगामिता और मधुर नारीत्व दोनो है। यही कारण है कि उनके उपन्यासो मे जीवन का कोमल और सकल्प दीप्त स्वर साथ-साथ मिलता है।

भारतीय समाज मे पुरुष की नारी दृष्टि क्या है—इसे यथार्थत हम जानते हैं। पर नागार्जुन की महिलाएँ कही भी प्रतिशोध भाव से ग्रस्त नही हैं। हाँ, आत्मयुक्ति के लिए वे निरन्तर प्रयत्नरत हैं और एक समानान्तर दुनिया रचने की तैयारी करती दिखती हैं। उनमे अपने आपको बदल डालने की पूरी सम्भावना है। कुम्भीपाक की 'चम्पा' शुरू मे तो त्यागपत्र (जैनेन्द्र) की नायिका की तरह अपने को हमारे सामने प्रस्तुत करती है। गर्हित से गर्हित, दुर्वह से दुर्वह जीवन वह जी चुकी है, पर एक बार मौका पाकर वह हमेशा हमेशा के लिए उस यन्त्रणामय जीवन से छुटकारा भी पा लेती है। 'वरुण के बेटे' मे माधुरी सोचती है—अब वह कभी उस नशाखोर बुड्ढे की लात-वात बर्दाश्त करने नही जाएगी " फिर से शादी कर लेगी किसी दिलेर-नेकचलन और मेहनत-कश जवान से "और, बगैर मर्द के कोई औरत अकेली जिन्दगी नही गुजार सकती है क्या?" (पृ० 109) हिन्दी उपन्यास मे ऐसी दिलेर और विचार पुष्ट महिलाएँ बहुत कम मिलेंगी ? नागार्जुन के पुरुष पात्र दो वर्गों मे विभाजित है। एक वर्ग मे पुरानी पीढी के पुरोहित, यजमान, सामन्त, जमीदार, जागीरदार, घुटे हुए स्वार्थी राजनेता, साधु, महथ और बनिये प्रकार के लोग हैं जिनका काम समाज की काया को घुन की तरह चाटना है। जो यथास्थितिवादी या घुसपैठवादी हैं। आधुनिक भारतीय समाज मे पत्रकार, लेखक, समाजसेवी, प्रकाशक, वकील, प्राध्यापक—यानी कि बुद्धिजीवी कहे जाने वाले लोगो के प्रति भी लेखक की दृष्टि बहुत कुछ आलोचनात्मक ही है। यहाँ वे मुक्ति-बोध के समानान्तर चलते जान पडते हैं। 'कुम्भीपाक' मे इस प्रकार के लोगो की छवियाँ अकित हैं। जमनिया का बाबा मे, भारतीय समाज का अधविश्वास और मठो मे व्याप्त भ्रष्टाचार की कलई खोली गई है। हीरकजयन्ती (अभिनन्दन) म आधुनिक सामाजिक बदमाशियो और राजनीतिक ढोगो को नगा किया गया है और तथाकथित भद्र समाज को भीतर से पहचानने का एक अवसर सुलभ किया गया है। विजय तेंदुलकर मराठी नाटको के माध्यम से जो काम अब कर रहे हैं, नागार्जुन अपने उपन्यासो में वह बहुत पहले शुरू कर चुके हैं। समाज के इस खतरनाक यथार्थ से आगाह करने और सावधान रहने की सूचना वे हमे निरन्तर देते हैं। साथ ही वे हमारे लिए उन रचनात्मक पात्रो की

दुनिया भी निर्मित करते हैं, जिस पर हम भरोसा कर सकते हैं। जिसके सहारे अपनी लडाई लड सकते हैं। सामाजिक सक्रमण के इस क्षण मे, जबकि चीजें बहुत साफ नही है, केवल राजनीतिक नेतृत्व के भरोसे निर्णायक स्थिति नहीं लायी जा सकेगी। नेतृत्व को सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक क्षेत्रो म यह कार्य करना होगा। सच्चा जनतान्त्रिक नेतृत्व तभी हो सकेगा। दु खमोचन जैसे पात्रो की कल्पना इसी लिहाज से की गई है।

कह सकते हैं कि नागार्जुन अधूरी दुनिया के लेखक नही है अत न तो वे कोरे आदर्शवादी (कल्पनावादी) हैं और न ही कोरे यथार्थवादी। उनके उपन्यास किसी निश्चित राजनीतिक या सामाजिक चिन्ता से जन्म लेते हैं और किसी स्पष्ट इशारे के साथ खत्म होते हैं। गोर्की के शब्दो म उनकी कला साधना पक्ष और प्रतिपक्ष के बीच लडा गया एक धर्म युद्ध है—"It is a battle for and against"

इसलिए उसम बदलाव की गहरी मशा हर जगह झलकती है। मनुष्य अगर इतिहास की उपज है तो इतिहास निर्माता भी है। परिस्थितियाँ ही उसे नही बदलती, वह भी परिस्थितिया को बदल डालन म सक्षम है। यह बदलाव केवल वस्तुजगत का न होकर व्यक्ति के अन्तरग जगत का भी होगा। नैतिक साहस और ईमानदारी जैसी भीतरी शक्तियो के बिना यह बदलाव अधूरा और एकागी होगा। नागार्जुन को पढ हुए ये तथ्य बार-बार हमारे दिमाग म कौंधते हैं।

नागार्जुन और उनकी धरती

अपने तरउनी गाँव की भूमि से जितना लगाव अपराजिता जी का है, उतना ही नागार्जुन का भी। कभी के बौद्धभिक्षु नागार्जुन जब प्रवास मे होते हैं उन्हें सिंदूर-तिलकित भाल वाली अपराजिता देवी अक्सर याद आती हैं, पर अकेली नही। नागार्जुन का प्रेम-छोह अकेले एकात का नेह-छोह नही है। उसके रेशे-रेशे उस धरती मे भिदे हुए हैं जहाँ उनका बचपन बीता है। इसलिए जितना प्रेम सहधर्मिणी अपराजिता के प्रति है, उससे कही अधिक ही अपनी जन्मभूमि मिथिलाचल के प्रति। पत्नी को याद करते हुए भी वे मिथिला के जनजीवन और प्रकृति-अचल के रमणीक दृश्यो मे डूब जाते हैं—

याद आते स्वजन
जिनकी स्नेह से भीगी अमृतमय आँख
स्मृति-विहगम की कभी थकने न देगी पांख
याद आता मुझे अपना वह 'तरउनी' ग्राम
याद आती लीचियाँ, वे आम
याद आते मुझे मिथिला के रुचिर भू-भाग
याद आते धान
याद आते कमल, कुमुदिनि और तालमखान
याद आते शस्य-श्यामल जनपदो के
रूप-गुण-अनुसार ही रक्खे गए वे नाम
... ...
धन्य वे जिनके मृदुलतम अक
हुए थे मेरे लिए पर्यंक
धन्य वे जिनकी उपज के भाग
अन्न-पानी और भाजी साग
फूल-फल औ' कद-मूल अनेकविध मधु मांस
विपुल उनका ऋण, सधा सकता न मैं दश मांश

'रतिनाथ की चाची' का एक पात्र सोचता है—"सुजला सुफला मलयज शीतला फुल्ल कुसुमित द्रुमदल शोभिनो शुभ्रज्योत्स्ना पुलकित यामिनी सुहासिनी समधुर-भाषिणी सुखदा वरदा—मातृभूमि की वन्दना के लिए बगीय बकिमचन्द्र ने इन विशषणो का उपयोग किया है। जय किशोर का दावा था कि हमारी मातृभूमि मिथिला भी ठीक इन्ही विशेषणो की अधिकारिणी है। (पृ० 112) इसी उपन्यास मे तारा बाबा नामक एक पात्र हैं जो कवि नागार्जुन की तरह देश-दुनिया घूमते, तीर्थाटन करते रहते हैं, किन्तु लौटकर यही आते हैं—शुभकरपुर की मिट्टी से उन्हे एक प्रकार का मोह हो गया था। साल

डेढ़ साल बाद वह विंध्याचल या पशुपतिनाथ की यात्रा मे निकला करते और डेढ़-दो महीने बाद वापस आ जाते। फिर वही गाँव, फिर वही कुटी।' तारा बाबा के लिए लेखक की यह टीप बहुत कुछ उसके अपने बारे मे भी सच है। देश-देशान्तर की यात्रा करते हुए वह अपनी धरती को निरतर याद करता रहता है। नेवला जब साँप से लड रहा होता है तब बीच-बीच मे युद्ध-विराम कर वह निकट की किसी हरी झाड़ी में लोटता रहता है। कहते हैं वहाँ से लौटते हुए वह दुगुनी ताकत साथ लाता है। नागार्जुन का लेखन भी इसी प्रकार सभ्यता के जहरीलेपन से लडने के दौरान पैदा होता है। इसीलिए वे बार-बार गाँवो के अचलों की ओर लौटकर सामूहिकता, भाई-चारा और दवगी की सजीवनी लेकर लौटते हैं। जहाँ प्रेम है, वहीं शक्ति भी है, इसे नागार्जुन को पढ़कर जाना जा सकता है।

नागार्जुन के गाँव यद्यपि राष्ट्रीय अर्थों तक अपनी व्यापकता रखते है, फिर भी गाँवो को जानने-पहचानने और आत्मीय सबध स्थापित करने का सुयोग तो उन्हे मिथिलाचल मे ही मिला। इसीलिए उनके उपन्यासो मे मैथिल-जीवन का बहुत विस्तृत और आत्मीय वर्णन मिलता है। प्रेमचद ने भी अपना अधिकाश लेखन 'गाँव' को केन्द्र मे रखते हुए किया है, किन्तु वे किसी अचल-विशेष के विस्तृत ब्यौरो मे नही गए। उनकी मूल चिंता गाँवो की आर्थिक विपन्नता थी। वे यह तो नही चाहते थे कि गाँव शहर बन जायें, किन्तु गाँवो के लोग भी जीवन यापन की वे सारी सुविधाएँ पा सकें जो आम शहरी के लिए सुलभ हैं, यह उनकी अभिलाषा थी। इस लिए उन्होंने अपना सारा ध्यान ग्रामीण समस्याओ पर केन्द्रित किया है। फणीश्वरनाथ रेणु के गाँव अपनी समूची आँचलिक समृद्धि के साथ जगमग हैं। वे करवटें ले रहे हैं। शहरों की नयी हवाएँ उनकी रग-रग रग रही हैं। नागार्जुन इन दोनों स अलग है। गाँवो की बहुत सारी बातें अब छाँट देने लायक हैं। वर्ण-भेद, जाति-अह, जमीदारी, सामतो ठाठ-बाट और अज्ञानता की कालिख अब धुलनी ही चाहिए, किन्तु उनका अमद प्रकृति वैभव, उल्लासमय जीवन, सघर्षजीविता, अवसाद-मुक्ति, सामूहिकता और बान्धवता निश्चय ही आज के निराश और सभ्यता-कातर मनुष्य के लिए मूल्यवान है। गावो की अपनी समस्याएँ भी हैं। जमीदारो के बाद नया श्रीमन्त वर्ग सार्वजनिक भू भागो को पैसे के बल पर हड़पना चाहता है। सरकारी मुलाजिमो को खिलापिलाकर, धौंस जमाकर सार्वजनिक जमीनों को अपना लेना चाहता है। और यह लेखक इस बारे मे काफी सजग और चौकन्ना है। उपन्यासो ही क्यो कविताओ मे भी उसकी यह चिन्ता बरकरार है। क्रातिकारियो, कामरेडो, मजदूर किसान सभाओं और स्वावलम्बी कुटीरो की कल्पना उसके उपन्यासो में खूब है। इसके बावजूद नागार्जुन मिथिला की धरती के निष्णात चितेरे हैं। सघर्षों के कुहरे मे भी उनकी आँखें आम-लीची के बाग, तालमखानो, गढ़ पोखरों और लोकरजक व्रतो उत्सवो पर लगी रहती हैं। वे हमे एक समूचा इतिहास देते हैं, समूचे भूगोल के साथ। मिथिला का यह अचल अगर उनके उपन्यासो से घटा दिया जाय तो नागार्जुन के कथा-ससार का एक मूल्यवान हिस्सा ही कट जायगा।

सच तो यह है कि मिथिलाचल उनके लेखन की प्रेरणा भूमि है। उसी ने उन्हे

प्रेम करने के सस्कार दिये हैं। उनकी राग भावना की आधार भूमि यही धरती है। इसी पर खड़ी होकर उनकी कविता अपने ताने-बाने बुनती है, खिलती और महकती है। यही वह भूमि है जिसने कवि को अपनी रक्षा के लिए लडते रहने के सस्कार दिए हैं। कथाओ को सोचने-विचारने और राह निकालने की जुगत बतायी है। प्रेमचन्द, गोर्की या शरत-बकिमचद्र सभी अपने इसी आत्मीय भाव के कारण सच्चे और ईमानदार लेखक बन पाए हैं। आज तो स्थिति बदल गई है। मिट्टी की गध को साहित्यिक दकियानूसी मानकर कुछ आधुनिकतावादी लेखक अजनबीपन बघार रहे हैं। उनकी बुद्धिवादिता की छौंक म प्रेम और भावुकता के तत्व जलकर राख हो चुके हैं। वे अति-विस्तृत आकाश और निरवधि पृथ्वी के बारे म सोचने का दावा करते हैं, मनुष्य मात्र उनका काव्य विषय है। किन्तु वे यह नही जानते कि प्रेम जब उमडता है तब बादल वन किसी न किसी कोने पर बरसता है, और वह धरती का ही एक हिस्सा होता है। प्रेम एक ठोस और मूर्त अनुभव है। वह हवा मे घुमाई जाने वाली तलवार नही है। उसक लिए किसी परिचित परिवेश का होना जरूरी है, अन्यथा प्रेम की कोई सार्थकता ही न रह जायगी। वसुधैव कुटुम्बक का नारा लगान वाले लोग भी यह मानते हैं कि घोंसला तो एक ही होगा, जहाँ हमारे थके पख विश्राम पायेंगे। बडे लेखको म यह प्रेम आगे बढ-कर भक्ति म रूपातरित हो जाता है। वे अपने प्रेम को सवा और समर्पण मे बदल डालते हैं। नागार्जुन इसी तरह के एक समर्पित लेखक हैं। वे देश प्रेमी ही नही देश भक्त भी हैं। उनका प्रेम कोरा उद्गारमूलक नही है। उसकी विशेषता है, उसकी चिन्तन परकता।

मिथिला के अचल को व इतना जानत हैं जितना कोई अपनी माँ को। इसीलिए वे सिर्फ मोह मे फँसे हुए प्रेमी नही हैं। उनकी आँखे खुली हुई हैं और वे इस मातृऋण को अदा करना चाहत हैं—' विपुल उनका ऋण, सधा सकता न मैं दशमाश, जैसी पक्तियो म उनकी यही गहरी पीडा प्रतिध्वनित हो रही है। उनका समूचा लेखन इसी ऋण शोध की परिणति है।

कुछ लेखक हैं जो सिर्फ अपना मोह प्रकट करके रह जाते है। हिन्दी के नये गीतो मे यह मोह काफी सघन रूप म व्यक्त हुआ है जहाँ कवि अपने पुराने सस्कारो का मसिया पढ रहा है। दूसरी ओर ऐसे भी लेखक हैं जो वस्तुमूलक चित्रण के माध्यम से एक नयी अभिरुचि अपने परिवेश के प्रति जगाना चाहते हैं। उनके लिए सब कुछ एक काव्य विषय है और कच्ची मिट्टी की तरह उनके हाथो म है। ये कलाकार किस्म के लोग हैं। नागार्जुन न तो मोहाध प्रेमी हैं न शुद्ध कलाकार। उनका प्रेम ऊर्जा का वह स्रोत है जहाँ से सृजन की गगोत्री ज म लेती है, किन्तु अपने प्रवाह म वह आत्ममुग्ध नायिका की तरह नही रह जाती। बहती हुई आस-पास के तट-प्रदेशो को हरा-भरा करती, हरियाली और प्रकाश बिखेरती चलती है। लोगो को पुकारती और अपनी यात्रा मे शामिल करती चलती है। जिस तरह कोई बडी नदी अपन यात्रा क्रम म अनेक नदी-नालो को समेट कर लोकधारा बन जाती है उसी तरह नागार्जुन की सृजन गगोत्री भी लोक के प्रवाह और लोक की चिन्ता का साक्षात प्रतिरूप है। लोक के प्रवाह के क्रम म

उन्होंने धरती के सौंदर्य को [illegible]
उन समस्याओं को उठाया [illegible]
अनुभव करके देखा ही है। इसलिए नागार्जुन के उपन्यासों में मिथिल अंचल का स्वरूप दुहरा है—एक है उसका नैसर्गिक सौन्दर्य और दूसरा है उसकी सामाजिक और आर्थिक दशा का [illegible]। नैसर्गिक सौन्दर्य का जहाँ तक प्रश्न है, बाग-बगीचे, नदी तालाब, खेत-खलिहान क्या नहीं है यहाँ। [illegible] धरती है सब + किन्तु हद दर्जे की गरीबी [illegible]

[illegible]

रहे हैं, अखबार आ रहे हैं, किसानो मजदूरो के संघ खडे हो रहे हैं, जमीदारो की चालें नाकामयाब की जा रही हैं। उनका यह अंचल काफी आरम सजग है। पता नही यह सजगता प्रेमचन्द के गाँवो मे कब तक पहुँचेगी। न जाने वे अब भी आधा गाँव, अलग अलग वैतरणी और राग दरबारी जैसी दुर्घटनाओ के शिकार क्यों हो रहे हैं? जाने क्यो आजादी के बाद उन्हें सांप-सा सूंघ गया है। और क्या यही हमारे लेखको का यथार्थ दर्शन है। मैं तो इसे यथार्थ के आगे घुटने टेक देना मानता हूँ। यथार्थ का मतलब निराशा नही है। मेरे लिए उसका अर्थ आदमी के भविष्य के प्रति अदम्य आस्था की रचना है। नागार्जु न इसी अदम्य आस्था के कल्पक हैं। इसका एक खास कारण यह है कि वे हिन्दुस्तान के ग्रामीण स्वभाव को ठीक-ठीक पहचानते हैं। आज भी निराशा और कुण्ठा, अपरिचय और अकेलापन उसे ही सताता है जो शहरो को ही सर्वस्व माने बैठा है। नागार्जु न शहरो की इन आयातित महामारियो से काफी दूर है। वे गाँवो के सघर्ष के उजेले मे है। वे जानते ही नही कि थकान या पस्ती क्या बला है। पढाई लिखाई ने उन्हे निकम्मापन्न नही दिया है। बल्कि वे उसका अधिक सार्थक उपयोग कर सकने मे सफल हो सके हैं। अपन अचल से प्रेम करने की नयी तमीज इसी पढाई लिखाई से चलकर उन तक आई है जिसने सैकडो लेखको को व्यक्तिवाद और निराशा के गर्त मे धकेल दिया है मिथिलाचल को उसके समूचे अतीत और भविष्य के साथ वे देखते है; किन्तु खुद उसके वर्तमान मे खडे है। सामतवाद उनके पीछे है और लोकतन्त्र आगे। इतिहास के इस चक्र से वे परिचित है और जानते है कि मनुष्य की सभ्यता विभिन्न युगो से होकर गुजरी है। चाहे वह जानबूझ कर ऊपर न उठी हो या उसका उत्थान अबाध न रहा हो, तब भी कोई न कोई शक्ति अवश्य रही है जो मनुष्य को धीरे-धीरे पुराने आदिम युगो की पिछडी स्थितियो से उठाकर वर्तमान स्थिति तक ले आयी है। इतिहास की इस सतत गति को वे पहचानते है और इसलिए सघर्ष को विकास की एक स्वाभाविक प्रक्रिया मानते हैं। सारी प्रकृति इसी प्रक्रिया के दौरान यथासमय मुकुलित-पुष्पित और फलवन्ती हो रही है, कोटि-कोटि चरण नयी-नयी सृष्टि रचने मे तत्पर है। तब लेखक क्यों चुपचाप अलस-अकर्मा बैठ ? क्यो न वह भावी समाज की रचना

के आधारो की बुनियाद तैयार करे। इस बुनियाद मे सब कुछ मौलिक ही होगा ऐसा भी नही। कोरमकोर मौलिक क्या होता है इसे तो हम भी नहीं जानते। बाबा तुलसीदास ने 'क्वचिद् अन्यतोपि' कहकर मौलिकता का अनुपात निर्दिष्ट कर दिया है। व्यवस्था के बदलने मे जादू नही, तर्क काम करता है इसलिए परिवर्तनकारी शक्तियाँ इस तर्क भूमि को नजरन्दाज नहीं करतीं। वे समूची इतिहास यात्रा को नये सिरे से देखती परखती है। अपने एक उपन्यास मे नागार्जुन लिखते हैं[1]—यह तुझे मैंने हजारो वर्ष पुरानी बातें बतलायी हैं। मनुष्यो की बलि चाहने वाले यक्ष-गन्धर्व, देव-देवियाँ और ब्रह्म अब बाहर नही रह गए—मोटी जिल्दों वाले पुराने पोथो की बारीक पक्तियो के अन्दर आज वे नजरबन्द हैं। राजाओ, पुरोहितों, सामतो, सेठो और तीर्थंकरो की बातो को बढ़ा-चढाकर बखान करने वाले बहुत सारे विद्वान सुदूर अतीत की उन क्रूर घटनाओ पर अब भी पर्दा डाले हुए हैं, वह उन लोगों के लिए सत्य युग है, स्वर्ण युग है! साधारण जनता का स्वर्णयुग तो अभी आगे आने वाला है बेटा!" इसी स्वर्ण-युग का सपना वे मिथिला की धरती पर खड़े होकर देख रहे हैं। यह वही धरती है जहाँ "शरद ऋतु की चाँदनी मे नील निर्मेघ आकाश, बिखरे नक्षत्रो की अपनी जमात के बलुआहा पोखर के श्यामल वक्षस्थल पर जब प्रतिफलित हो उठता, तो भिड (भीट) पर बैठे हुए निपट निरक्षर दुसाध-मुसहर भी कवि की तरह उसासें भरा करते! उन्हे जाने अपने जीवन की मधुमय घड़ियाँ एक-एक कर याद आतीं, या क्या।

हेमत की हल्की ठड मे सिल्लियो और वन मुर्गियो का झुण्ड बलुआहा के निर्मल जल मे घने सेंवार पर इधर से उधर छप-छप करके दौडा करता। शिशिर की नीरव निस्तब्ध निशा मे रह-रहकर एक-आध बडी मछली पानी पर उतराकर अपने पर फडफडाती तो ठिठुरती प्रकृति के वे एकान्त क्षण मुखरित हो उठते। वसत मे ग्रामीण बालक-बालिकाएँ लाख मना करने पर भी अपना जलविहार आरम्भ कर देते। वैशाख और जेठ के महीने मे तो मानो वरुण देवता का खजाना धनी-गरीब, बूढ़े-बच्चे, औरत-मर्द सभी के लिए खुल जाता। इन्हो दिनों मछुए महाजाल डालकर बलुआहा की तमाम बडी मछलियाँ निकाल लेते। बरसात के दिन भी भूलने के नहीं हैं। बाहर से जब पानी का रेला आता तो इस पोखर की बची-खुची मछलियाँ बाहरी दुनिया की सैर को निकल पडतीं। उनका वह अभियान स्वाद-लोलुप ग्रामीणों के लिए महोत्सव का द्वार उन्मुक्त कर देता। मतलब यह कि चौमास मे भी काफी मछलियाँ मारी जाती थी। आश्विन और कार्तिक की कडवी दोपहरियो मे काँटे डालकर मछलियाँ फँसाना देहाती जीवन का एक बडा रोमास है।"[2]

नागार्जुन का यह 'ऋतु-संहार' उनके ग्राम तरउनी की पृष्ठभूमि पर रचा गया है जिसे वे कभी शुभकरपुर, रूपउली और कभी तरकुलवा नाम से पुकारते है। इस देहाती जीवन का वर्णन करते हुए बाबा बटेसरनाथ मे लेखक ने कई मोहक दृश्य उकेरे

1. बाबा बटेसरनाथ, पृ० 70
2. रतिनाथ की चाची, पृ० 41-42

हैं। रात के आखिरी पहरों में भैंसों की पीठ पर बैठे हुए चरवाहों का मीठे गीत गाना, चौदह-चौदह सोलह-सोलह साल की अल्हड़ लड़कियों का गाय-भैंसों की चरवाही करना, शरीर पर गुदने गुदवाना, जवान औरतों का बाबा बटेसरनाथ के कंधों पर हाथ डालकर आत्मीयता प्रकट करना, फसलों का फूटना, खलिहानों का खिलखिलाना, शादी ब्याह, मुंडन छेदन, जनेऊ-उपनयन, तीर्थव्रत करना, बारातों में हाथी, घोड़ा, ऊँट, बैलगाड़ी, पालकी-तामदान, सगड या हक्का और खटोले की सवारी करना, राजकुमारों की शादियों में कंधों पर बाँस रखकर सोलह-सोलह बेगारों का अपने कंधों पर तख्तपोश ढोना और मय साज बाज के एक रंडी का उस पर नाचना, न जाने कितने अद्भुत पुराने-नये दृश्य हैं जिन्हें इस लेखक ने यहाँ टाँक दिया है।

मिथिला के ग्रामीण अंचलों में फसलों का आना जमींदारों से लेकर तीर्थों के पण्डों तथा भिखमंगों तक को खुश कर जाता है। यही स्थिति बरखा और चैत की भी है। जिस साल आम की फसल नहीं आती ग्रामवासी उदास हो जाते हैं, बरखा नहीं होती तो ताल-तलइयों के चेहरे मुरझा जाते हैं। आमों के आने और बरखा के होने की खुशी में सारा ग्रामीण जीवन भीतर ही भीतर नाच उठता है। नागार्जुन को ही क्यों सारे मिथिलावासियों को मछलियाँ अत्यंत प्रिय हैं। उनके बिना कोई भोज महाभोज नहीं बन पाता। नागार्जुन को आमों और मछलियों की न जाने कितनी किस्में मालूम हैं, सिर्फ याद नहीं। उन्होंने खाया भी है, चूसा भी और गिना भी। रतिनाथ के नाना रुद्रनाथ पाठक के पास पचास बीघों का बाग है। कलमी आमों का—बम्बइया, मालदह, किसुनभोग, कलकतिया, फजली, दडमी, जर्दालू, शाह पसंद, सुकुल, सिपिया, कपूरिया, दुर्गोलाल का केरवा, बथुआ, राढ़ी, भदई। लेखक ने नाना के बहाने एक एक किस्म का वैलक्षण्य वर्णन भी किया है—'किसुन भोग दुलरुआ ठहरा, जरा सी असावधानी से उसमें पीलू पड़ जाते हैं। गूदा कड़ा और काफी रहता है उसमें। शकल बिल्कुल गोल। कलकतिया गरीबों व साधारण जनता का प्रिय ठहरा, खूब फलता है और सालों-साल। भादों तक टिकता है। माकूल मिठास और भरपूर गूदा। सुलभ और सस्ता। उसका नाम ही गरीबनेवाज रख दिया है लोगों ने।" इसी प्रकार वरुण के बेटे में वे मछलियों की किस्में याद करते हैं—'लाल-लाल मुँह वाले रेहू अपने रुपहले और सुरमई छिलकों में खूब ही फब रहे थे। दाँत नहीं, जीभ नहीं, जबड़े भी अलक्षित थे।" 'लाल-लाल और सुरमई छिलकों वाली पोठी मछलियाँ मसूरिया आँखें चमकाती हुई शान में निकलती और बहते पानी में उल्टे-तिरछे चढ़ती। मंगल को पोठी मछलियों की यह अकड़ खूब ही भाती थी। जंगल को लेकिन सूत-सी सादी लम्बी मूँछों वाला इचना (झिंगा) देखते रहना अच्छा लगता था। चुल्हाई कटीले कंठों वाला भूरा-कजरा टेंगरा देखता तो खुशी के मारे चीख पड़ता। मधुरी की निगाहें चिकने-रुपहले सुहा पर फिदा थी। जिलेबिया को नीली आलावाली मटमैली मारा मछलियाँ प्यारी थी। सिलेबिया को चिपटा-चमकीला मोतिया कतरा पसंद था।" इनके अलावा भी बुआरी, माकुर, मोदनी, मुन्ना और नैनी जैसी न जाने कितनी किस्म मैथिल नागार्जुन को याद हैं।

मछलियाँ नागार्जुन को इतनी पसंद हैं कि खास नाश्ते में उनकी उपस्थिति

जरूरी है। मछुआरो के जीवन पर लिखते हुए इन्होने मत्स्यगीतो की रचना भी की है और जाल डालने का बहुत विशद चित्रण प्रस्तुत किया है। मैथिलो को मछली कितनी प्रिय है इस वे 'रतिनाथ की चाची' मे निर्दिष्ट करते हुए लिखते हैं—जयकिशोर मछली के आगे और किसी भोज्य पदार्थ को महत्त्व नही देते थ। हाँ, साथ मे जम्बीरी नीबू रहना ही चाहिए। 'जम्बीर नीर परि परित मत्स्य खडे' की तुलना मे मैथिल लोग अमृत तक को तुच्छ समझते हैं।" पृ० 137

मैथिलो का महाभोज भी असाधारण होता है। कहते हैं अगर अतिथि का हाथ पूरे पत्तल पर पहुँच गया तो फिर भोज क्या? अठारह-अठारह किस्म की तो सिर्फ मिठाइयाँ बनती हैं। यथार्थवादी नागार्जुन ने इस प्रकार के भोजो की अश्लीलता का वर्णन करते हुए लिखा है—"दरअसल यह चीजें खाने की नही, तमाशे की थी। सबके आगे बडे पत्तलो मे मिठाइयो का ढेर लगा था। जूठन की उन मिठाइयो को जवार के शूद्रो ने कई दिन तक खाया था।"

सामती जीवन शैली का निरूपण करते हुए लेखक ने उस अचल की कट्टर जातीयता, वर्ण-अह, कुलाभिमान, उच्चकोटि की दरिद्रता और अकर्मण्यता आदि का वर्णन किया है। कमाने वाले भूखे थे और न कमाने वाले खुशहाल। प्रेमचद ने अपनी प्रसिद्ध कहानियो मे भी इस अनुभव को वाणी दी है। नागार्जुन की दुनिया भी बहुत कुछ बदली नही है, सिर्फ किसान और मेहनत-मजदूरी करने वाली जनता सगठित होकर अपने अधिकारो की लडाई लड रही है। तब भी सामाजिक रीति रिवाजो के पाखण्डपूर्ण

की तरफ से उनके अभिभावक बडी तादाद मे जमा रहते है। लेखक ने टिप्पणी दी है—'सभा मे यदि कन्याएँ भी शामिल होती तो स्वयवर का यह विराट पर्व न केवल भारत-भर मे परन्तु सम्पूर्ण विश्व मे अद्वितीय कहलाता। तब सोनपुर के प्लेटफार्म और हरिहर क्षेत्र के मेले की तरह सौराठ की यह विवाह सभा भी मशहूर हो गई रहती। यद्यपि अपनी मौजूदा स्थिति मे भी ब्राह्मणो का यह वैवाहिक मेला अनुपम है।"

भयकर सम्पन्नता और भीषण गरीबी मिथिलाचल ही क्यो समूचे उत्तरी पूर्वी बिहार की विशेषता है। सपन्नता का पता जमीदारों के महाभोजो से लगता है तो विपन्नता का अदाज मछुआरो के जीवन को देखकर जिसका प्रतिनिधि खुरखुन है, जो पचमेर मिठाई खाने के बाद भी दो दो सकोरा चाय ढकेल लेता है और भोला की गाली सुनकर दाँत निकालकर खी खी हँसता रहता है। न पाँव मे जूते न बदन पर कपडे। मिथिला की इस विपन्नता की प्रतिध्वनि उसके रोमास-गीतो मे भी सुनाई पडती है। ये गरीब लोग अपने जागर की पूँजी पर ही जिन्दगी का सफर तै करते आए हैं।

मिथिला के जीवन पर लिखते हुए नागार्जुन ने समूचे देश की उस सर्वहारा, अधिकार प्रवचित आबादी का चित्र खीचना चाहा है जो अकाल और बाढ के दिनो मे प्राकृतिक प्रकोपो का शिकार होती है और खुशहाली के दिनो मे जमीदारो, ऊँची जाति

वालो के स्वार्थों का शिकार बन जाती है। अकाल और बाढ़ का वर्णन नागार्जुन ने अपनी कविताओ मे भी किया है और उपन्यासो मे भी। बाबा बटेसरनाथ म एक साथ इनका वर्णन है। हिन्दुस्तान के किसानो के चार बडे दुश्मन हैं—एक है जन-विरोधी राजनेता, दूसरा है घूसखोर भ्रष्ट अधिकारी, तीसरा है सामत और चौथे पर अकाल

[illegible]

देते हुए कहते हैं—"मैं आशीर्वाद देता हूँ, रूपउली वालो की यह एकता हमेशा बनी रहे। सुखमय जीवन के लिए तुम्हारी यह सामूहिक प्रचेष्टा कभी मन्द न हो, स्वार्थ की व्यक्तिगत-भावना कभी तुम्हारी चेतना को धुँधला न बनाए।" नागार्जुन के समूचे लेखन का यही निचोड़ है जो अपने अचल की तर्कपूर्ण विवेचना के बाद उन्होंने अपने पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है। एकता, जुझारूपन, सामाजिकता और स्वाधीनता उनके लेखन के मूल मुद्दे हैं जो बार-बार हमारा ध्यान अपनी ओर खीचते है।

यहाँ यह कह देना जरूरी होगा कि अपनी धरती के प्रति इस प्रेम ने ही नागार्जुन को आज तक भटकने से बचाया है। इसी नाते वे कोरे पार्टीबाज और कट्टर सिद्धान्ती नही बन सके। और यही वह स्रोत है जो बार-बार, हजार-हजार उमगो और आशाओ म फूटता है। लोक और धरती के प्रति तर्कातीत समर्पण ही उनके सृजन की मूल ऊर्जा है। विचार, सिद्धान्त, राजनीतिक सम्प्रदाय और निष्ठा अगर इसमे सहायक बन सकते हैं तो उनका स्वागत है।

कथा-शिल्पी नागार्जुन

ऐसा नही कहा जा सकता की प्रगतिशील सर्वहारा जाति का लेखक सिर्फ अपनी बात को महत्त्वपूर्ण मानता है, बतकही का ढग नही सोचता। किसी भी लेखक के लिए विषय की सूझ-बूझ जितनी जरूरी है, उससे कम जरूरी उचित शिल्प की खोज नही है। जिसे जरा भी अपनी बात के प्रति मोह होता है, वह उसे उतने ही सुन्दर ढग से प्रस्तुत करता है। ढग की यह सुन्दरता बहुत कुछ लेखक की शिल्प दक्षता पर निर्भर करती है। कभी-कभी 'ढग' बडा पुराना होता है किन्तु लेखक उसम नयी चमक पैदा कर देता है। दोहो के क्षेत्र म यह सुखद चमत्कार देखा जा सकता है। कुछेक नये कहानी लेखक पचतत्र और हितोपदेश शैली मे अपने को व्यक्त करके उतने प्रभावशाली साबित हो रहे हैं जितने कि नये शिल्प का प्रयोग करने वाले नही हो पा रहे हैं। महत्त्वपूर्ण यह नही है कि प्रयोग कितना अभिनव है, महत्त्वपूर्ण यह है कि उक्त प्रयोग के द्वारा लेखक अपनी समग्र सर्जनात्मक प्रतिभा का भरपूर उपयोग कर सका है या नही।

नागार्जुन के उपन्यासो के सन्दर्भ म यह भूमिका जरूरी जान पडती है। कारण यह कि वे हमारा ध्यान शिल्पगत अभिनवता की ओर न खीचते हुए भी प्रयुक्त-पद्धतियो का बहुत ही सधा हुआ इस्तेमाल करते हैं। उनक उपन्यासो मे हमे वर्णन, विवरण, आत्मोद्घाटन, स्वप्न कथन और नाटकीय शैलियों का उपयोग मिलता है। बलचनमा जैसे उपन्यासो मे 'आत्म कथात्मक' (उत्तम पुरुष शैली) पद्धति अपनायी गई है। सच तो यह कि उन्हे उपन्यास की किसी शैली-विशेष स न मोह है, न ही उसके प्रति विमोह-ही। सभी प्रचलित और ज्ञात शैलियो मे वे अपनी कथाएँ कहते हैं। इसलिए इस क्षेत्र मे हम उन्हें प्रास्थानिक प्रयोक्ता नही कह सकते। 'रतिनाथ की चाची' म वे बहुत कुछ प्रेमचद की कथा शैली को अपनाते हैं, जिसे हम धारावाहिक कथा शिल्प कहते हैं किन्तु 'बलचनमा' म जीवनीपरक कथा शैली अपनाते हुए उग्रतारा और कुम्भीपाक जैस उपन्यासो म समस्या केन्द्रित नाटकीय विवरण शैली को पकड लेते है। विशेष बात यह है कि विवेकी कला-पुरुष की भाँति विषय और परिस्थितियो के सन्दर्भ मे वे अपनी शैली बदल डालते हैं। प्रेमचद ने भी गाँवो से अपने कथानक चुने हैं, किन्तु यह शैली-वैविध्य उनमे नही मिलता। जिस युग मे वे अपना यह कार्य कर रहे थे, उस समय चुनौतियाँ भी कुछ दूसरी थी। कथा को उत्सुकता और मनोरजन की दुनिया से निकाल कर सामान्य जन की कहानी म रूपातरित करने वाली समस्या सर्वप्रमुख थी। नागार्जुन ने जब अपना कार्य शुरू किया, हिन्दी कथा-साहित्य कई-कई रगो और रूपो म विकास प्राप्त कर रहा था। उनके सामने नमूने थे, उन्होने उन्हे चुना और सफलता-पूर्वक उनसे अपना काम निकाला।

हिन्दी के आलोचकों की निगाह में नागार्जुन या तो ग्राम कथा लेखक हैं या आंचलिक या समाजवादी यथार्थवादी। निश्चय ही ये सारे विशेषण लेखक की विलक्षणताओं को सीमाबद्ध करते हैं। जबकि नागार्जुन जैसे लेखक की कथा-वस्तुएँ जीवन की सहज प्रवाहमयता का अनुसरण करती हैं। जीवन अपनी स्वाभाविकता में न तो पूरी तौर पर आदर्शवादी होता है न ही यथार्थवादी। लेखक सिर्फ यह छूट लेता है कि वह इनमें से किसी एक को अपने कथन-इष्ट के रूप में चुने। जिस प्रकार 'चिन्तामणि' का लेखक विचार प्रधान निबंध रचना में प्रवृत्त होकर भी जीवन की सहज भाव राशि की मूल्यवत्ता को भी स्वीकार करता चलता है, उसी प्रकार यथार्थवादी नागार्जुन भी जीवनगत आदर्शों से बहुत जगहों पर अपनी वस्तु को समृद्ध करते चलते हैं। बावजूद इसके उनकी कथानक-संरचना निर्दोष और संगतिपूर्ण है। गोदान को लेकर आलोचकों की यह आपत्ति सर्वविदित है कि गाँव और शहर के जीवन को लेकर चलने वाली कहानियाँ उचित सामंजस्य प्राप्त नहीं कर सकी हैं। नागार्जुन *बाबा बटेसरनाथ* जैसे उपन्यास की शुरुआत सामाजिक जीवन के धरातल से करते हैं किन्तु उत्तरार्ध में सारी कथा राजनीतिक हलचल और सक्रियता की गोद में जा बैठती है। तब भी इसे संरचनात्मक असामञ्जस्य नहीं कहा जा सकता। सामाजिक जीवन राजनीतिक जीवन से इतना घुला-मिला हुआ है कि उक्त उपन्यास का कथानक देशी क्रांति का इतिहास प्रस्तुत करता हुआ लगता है। कथानकों की यह संगठना उस समय और भी उभार लेती दिखती है जब लेखक कई अन्य छोटी-मोटी प्रासंगिक कहानियों को भी इसके साथ जोड़ता चलता है। 'वरुण के बेटे' में मुख्य समस्या मछुआ जीवन के अधिकारों की रक्षा से संबद्ध है किन्तु मधुरी और मंगल की प्रेमकथा ने उस संघर्ष को अधिक रोचक और गम्भीर बना दिया है। 'प्रेम'-और 'संघर्ष' के इस दुहरे जीवन को पूरे कथानक में रस्सी की तरह बट कर एकाकार कर दिया गया है। प्रेम की कोमल चाँदनी रातें संघर्ष के प्रखर ताप में लीन होकर नयी सामाजिक सुबहों का आवाहन करती दिखायी देती हैं।

नागार्जुन के विवरण प्रधान कथानकों में भी सूचनाओं के बदले नाटकीय शैली का प्रयोग अधिक है। आम, लीची, तालमखाने और मछलियों की किस्में गिनाते हुए वे जितने सूचना-समृद्ध लगते हैं, वहीं मार्मिक प्रसंगों के सन्दर्भ में वे सघन दृश्यात्मक-शिल्प का उपयोग करते दिखाई देते हैं। बलचनमा और नयी पौध में जो विवरण प्रधानता है भी तो उससे कथा संवर्धन का काम लिया गया है। 'बाबा बटेसरनाथ' में लेखक ठोस कथा-बिम्बों के माध्यम से दृश्य साक्षात्कार की पद्धति अपनाता है। बाबा के मुख से यह वृत्तान्त देखिए—

"अगले बैशाख में राजा के मझले कुमार की शादी हुई। शुक्ल पक्ष की दशमी थी। बारात इसी रास्ते गुजरी थी। नौकर-चाकर मिलाकर सौ आदमी रहे होंगे। कन्धों पर बाँस रखकर सोलह बगार भारी-सी एक तख्तपोश ढोये जा रहे थे, उस पर दरी और जाजिम बिछी थी। मय साज-बाज के एक रंडी उस तख्तपोश पर नाच रही थी—तबला, डुग्गी, सारंगी, मंजीरा सब साथ दे रहे थे।'''वैसा अद्भुत दृश्य मैंने फिर

सामाजिक सहानुभूति और व्यंग्य की दृष्टि से प्रस्तुत की गई हैं। 'पारो' की कहानी तो बहुत छोटी किन्तु उसका कलात्मक प्रभाव अत्यंत मार्मिक और कचोटने वाला है। करुण-व्यंग्य की अद्भुत कहानी कहते हुए लेखक कहता है—

"सुनने में आया है कि चौधरी जी ने इसी बैशाख मे फिर शादी की है······ अपनी इच्छा नही ही थी, मगर ममेरे भाई का आग्रह···तब करते भी क्या ?"

दूसरी कहानियां भी वे अपने आस-पास के जीवन से ही उठाते हैं। कुम्भीपाक में अनाथाश्रमो के नारकीय जीवन, उग्रतारा मे बालविधवाओ के सकट, नयी पौध मे फिर वही बेमेल विवाह वाली समस्या, ऐसी कहानियां हैं जो रोज ही हमारे इर्द-गिर्द घटती रहती हैं। हमारे जीवन मे सामाजिक कोढ़ के रूप मे ये मौजूद हैं, आज भी। आज भी हम लेखको के लिए ये आँखें खोल देन वाली बातें हैं। जिस जनजीवन को हम आगे ले जाना चाहते हैं, उसकी बीमारियों की पहचान भी हमारे पास है या नही। या हम सिर्फ नये मजदूर जलसो के हाथ मे क्राति का झण्डा थमाकर नवयुग आगमन की

ओर काफी भारी है। नयी हवाओ को आसानी से अपनी पुरानी बारादरी मे घुसने नही देता। अगर वे कटिबद्ध होकर घुस आई तो दूसरी विचित्रता यह है कि उन्हे एक अनिवार्य क्षेपक की तरह स्वीकार भी कर लेता है। धीरे-धीरे वे मुख्य प्रवाह का अग बन ही जाती हैं। यह ऐतिहासिक समझ नागार्जुन की विशेषता है। इसलिए पुराने सामाजिक कोढो के साथ नयी हवाओ की टकराहट वे अवसर आयोजित करते हैं। इस आयोजन मे आजादी पूर्व का समाज सुधार, राष्ट्रीय नवजागरण और किसान मजदूर आदोलनो की झाकियाँ भी अपना योगदान करती हैं। ज्ञात तथ्य है कि श्रीलका के बौद्ध मठ से लौटकर नागार्जुन बिहार के सुप्रसिद्ध किसान आन्दोलन में कूद पड़े थे जिसका नेतृत्व स्वामी सहजानन्द सरस्वती कर रहे थे। कुम्भीपाक मे इस आदोलन का हल्का-सा जिक्र पृष्ठ सत्तासी पर किया गया है। इसी तरह गाँधी के नेतृत्व में चलने वाले राष्ट्रीय आन्दोलन की एक सक्षिप्त झाँकी बाबा बटेसरनाथ में मिलती है। क्रातिकारियों, समाजवादियो और किसान मजदूर सगठनो के वृत्तान्त भी प्रचुरता के साथ इस्तेमाल किये गये हैं। सामाजिक विकास की इस राजनीतिक यात्रा मे हमारे सामने वे सारे विवरण यह लेखक प्रस्तुत करता है, जो आजादी पूर्व के सामाजिक क्राति के महत्त्व-पूर्ण अध्याय कहे जा सकते हैं। इनका नियोजन करते हुए वे उन वैचारिक निष्कर्षों तक हमे पहुंचाना चाहते हैं जिन्हें हमारी नयी पीढ़ी ऐतिहासिक निरक्षरता और अबोधपन के कारण भूलती जा रही है। हमारे महामहिम कथा लेखक अति आधुनिक विचारों के मोहजाल में फँसकर भारतीय समाज के इन क्रमिक विकास सोपानो को नजरन्दाज कर चुके हैं। वे हमारा ध्यान कथा-शिल्प की नवीनता और अमूर्त सघटनों की ओर खींच रहे हैं। प्रेमचन्द ने जिस बिन्दु से अपना लेखन शुरू किया था, उसको तिलाजलि देकर व्यक्तिगत विलक्षणात्मकता की ओर बढ़ने का कारण हमारे लेखकों का अति आधुनिकता परक दुराग्रह ही है। अमृतलाल नागर, रेणु, शिवप्रसाद सिंह, श्रीलाल शुक्ल,

भीष्म साहनी, राही मासूमरजा ने अपने उपन्यासो को फिर से राष्ट्रीय जीवन के वास्तविक प्रसगो से जोड़कर ऐसी कहानियां लिखने की कोशिश की है जो हमारे सामाजिक जीवन की अविभाज्य इकाइयो के रूप मे विद्यमान है। नागार्जुन भी इसी परिवेश के लेखक हैं। साक्षात जीवन (देखे हुए) की वास्तविक घटनाएँ ही उनकी कल्पना मे पुनः जन्म लेकर उपन्यास की कथा बन जाती हैं।

इसी तरह उनके ज्यादातर चरित्र भी प्रत्यक्ष जीवन से लिए गए हैं। प्रेमचन्द की तरह उनके कुछ चरित्र तो जातीय विशेषताओ से सम्पन्न दिखाए गए हैं—गौरी (रतिनाथ की चाची) बिसेसरी (नयी पौध) भगौती, सेठ खिर्धीचन्द (जमनिया का बाबा) अभिनन्दन के सारे का सारे पात्र इसी प्रकार के हैं। किन्तु पारो, उग्रतारा, मस्तराम, चम्पा, भुवन, इमरतिया जैसे पात्रो का महत्त्व उनकी व्यक्तिगत विशेषताओ के चलते हैं। कुम्भीपाक मे चम्पा का यह स्वप्न चित्र देखिए—जो उसकी पिछली जिंदगी से छनकर फ्लैशबैक शैली मे आया है—

"—बस, ज्यादा मत सोचो। भाग चलो चम्पा···

—लेकिन बच्चो को छोडकर एक माँ के पैर उठेंगे ?

—जहन्नुम मे जाओ।

—बच्चे···शकुन्तला और विजय।

—मेरी कोख जल नही गई है, बच्चे फिर हो जायेंगे···हिन्दुस्तान मे रहूँगी तो कभी उस गाँव की मिट्टी छू सकूँगी जहाँ जन्म हुआ था।" (पृ० 96)

भीखनसिंह के नाम लिखा गया उग्रतारा का पत्र किसी भी सामान्य युवती का काम नही है। जमनिया का बाबा' मे मस्तराम जैसे साधु कितने हैं जो अपने भोलेपन और देश प्रेम मे लाजवाब हैं। जो ढोगियो को पहचानते ही नही उन्हे नसीहत देने की प्रतिज्ञाएँ भी करते है। प्रश्न यह हो सकता है कि क्या लेखक को अपने पात्रो से वह सब कराने का हक है, जिसे वह खुद करना चाहता है? या सोचता है। "कोई भी उपन्यासकार जब किसी पात्र का सृजन करता है तो स्वय उसके माध्यम से विलक्षण घटनाओं से पूर्ण एक दूसरा जीवन जीता है। वह उपन्यास के एक काल्पनिक पात्र का ही सृजन नही करता अपितु स्वय के ही रक्त और माँस से एक नये जीव का निर्माण करता है जिसमे उसीकी भाँति अनुभूति-क्षमता होती है और जिसके जीवन की प्रत्येक घटना को मूल रूप से वह उपन्यासकार स्वय भोगता है।"[1] स्वाभाविक ही है कि उपन्यास-लेखक आत्म प्रकाशन नही आत्माभिव्यक्ति के कारण अपने कार्य मे प्रवृत्त होता है। एक फ्रांसीसी पत्रकार के जवाब मे डाक्टर जानसन ने कहा था—'मूर्खों को छोडकर कोई भी केवल पैसे के लिए नही लिखता।' प्रत्येक लेखक के सन्दर्भ मे यह बात महत्त्वपूर्ण है। प्रत्येक लेखक कुछ न कुछ व्यक्त करना चाहता है और वह अभिव्यक्ति की ऐसी गुंजायशो की खोज निरन्तर करता रहता है जिनके तहत वह अपने खौलते हुए विचारो और व्यग्र अनुभवो को प्रकट कर सके। पात्रो या घटनाओ का चयन और संघटन करते

1. ए नॉवलिस्ट बिगिन्स—जुलियन ग्रीन, पृ० 48

हुए वह केवल तथ्य सकलन नही करता, उन्हे वैचारिक क्रम म सजाता भी है। अपनी कल्पनाओ के अनुसार तराशता और विकसित करता है। उसकी इस स्वतत्रता को हम उससे छीन नही सकते। अपनी यह राय जरूर कायम कर सकते हैं कि उसने जो चरित्र हम दिये हैं वे हमारी सवेदना को भी झकझोर सके हैं या नही? उनमे जीवन का स्पदन कितना गहरा और प्रभावपूर्ण है?

एक मुँहलगे पाठक के यह पूछने पर कि 'बाबा! आपका बलचनमा अब कहाँ होगा? नागार्जुन न विक्षुब्ध स्वर म कहा था—'होगा साला कही किसी ग्राम पचायत का सरपच बना बैठा।' लेखक के इस उत्तर से सुराग लगता है कि उसने अपने चरित्रो से क्या उम्मीद की थी और सामाजिक जीवन के बीच पडकर वे क्या से क्या हो उठते हैं। डॉ० गोपाल राय ने बलचनमा की समीक्षा लिखते हुए यह अपेक्षा की है कि शायद बलचनमा का दूसरा भाग भी नागार्जुन लिखने वाले हैं। किन्तु उल्लिखित उत्तर से यह पता लगता है कि वे 'बलचनमा' से कितने असन्तुष्ट हैं और उससे दुबारा मिलकर अपने किए कराए पर ही पानी फेरेंगे। आजादी के आस-पास जिस आशा और आस्था से वे सवलित थे आज वह तास के महल की तरह ढह चुका है और लेखक का स्वर कदाचित व्यग्यात्मक और आलोचनात्मक हो चुका है। 'बलचनमा' म हमारी मुलाकात एक ऐसे व्यक्ति स होती है 'जो हमस मुलाकात होने के साथ ही गहरी आत्मीयता स्थापित कर लेता है और हम उसकी कहानी सुनने लगत हैं।' यह आत्मीयता पाठक की उस सामाजिक सहानुभूति के चलत है जिस यह लेखक पकड सका है। असल बात यह है कि नागार्जुन पात्रो के भीतर उतरत हुए सामाजिक नैतिक अपेक्षाओ पर हमारा ध्यान अधिक केन्द्रित करत हैं और उनके चरित्र उसी की कोख से जन्म लेते हैं। उनमे जो विशेषताएं हम दिखाई पडती है वे उसी धारणा की देन हैं। जहाँ कही वे व्यक्ति गत विशेषताओ पर फोकस डालते हैं, वहाँ भी उनका निरपेक्ष चित्रण नही करते बल्कि सामाजिक जीवन चरित्र की छाया म व्यक्तिगतता एक कोमल व्यग्य के रूप मे उभरती दिखाई देती है। वस्तुत वे अपन पात्रो के प्रति दो प्रकार के रवैयों की माँग करते हैं—सहानुभूतिपरक और कठोर आलोचनात्मक रुख। सामाजिक जीवन के अभिशापो को झेलने वालो के प्रति वे पहली चेतना की अपेक्षा करते है तो वातावरण म प्रदूषण फैलाने वाले सदस्यो क प्रति वे निर्मम और कठोर व्यवहार की कामना करते है। ऐसे भी पात्र है जिनके सामने हमारी बुद्धि झुक जाती है और हृदय आदर और स्नेह से भर-भरा उठता है और ऐस भी जिनके मुँह पर घृणा स भरकर थूकने की इच्छा होती है। वे हमारी श्रद्धा, आदर, स्नेह के साथ साथ घृणा, निंदा और आलोचना को भी जगाए रखना चाहते हैं, और इस क्रिया के सम्पादन क लिए अन्तर्दर्शन और आत्मविश्लेषण की विधियाँ भी भरपूर अपनात हैं। प्राय हर सफल लखक इस रास्त चलना चाहता है और नागार्जुन भी।

उपन्यास म पात्रो को प्रस्तुत करत हुए जिन तीन शैलियो का सहारा वे लेते हैं वे क्रमश विवरण, सभाषण और अन्तर्दर्शन की शैलियाँ कही जा सकती है। जमनिया का बाबा और हीरकजयन्ती म अन्तर्दर्शन और आत्मविश्लेषण की यह शैली बहुत

रहती है। लेखक की कल्पनाएँ बहुत अधिक स्वच्छन्द और आत्मनिर्भर होने के वजाय हवा-पानी से तालमेल बिठाती हुई आगे बढती हैं। नागार्जुन के उपन्यासो मे आंचलिकता का यही अश हमे मिलता है। किन्तु यह कहना बुद्धियुक्त न होगा कि इन्ही आंचलिक विशेषताओ को प्रकट करने के लिए उनके उपन्यास लिखे गए हैं। उपन्यास लेखन को वे सामाजिक समस्याओ से टकराने और निपटने के लिए हाथ मे लेते हैं। इसलिए उनके उपन्यासो मे बहस और उत्प्रेरण दोनों ही हैं। सामाजिक घटको की यथार्थ स्थिति पर मार्मिक और सटीक टिप्पणियाँ हमें बीच-बीच मे मिलती है। महिलाओ, पुरुषो, किसान-मजदूरो और राजनेताओ की जीवन-स्थितियो और कार्य-पद्धतियो पर बडे तीखे रिमार्क लेखक बीच-बीच मे पास करता है। कहना चाहे तो इसे आलोचनात्मक यथार्थवाद कह सकते हैं। यथार्थवाद की प्रकृतवादी और गूढ मनोवैज्ञानिक पद्धतियो के अलावा नागार्जुन ऐतिहासिक, आलोचनात्मक और सामाजिक यथार्थवाद को अपने लिए उपयोगी दृष्टि बिन्दु के रूप मे स्वीकार करते हैं। आंचलिकता इन्ही पद्धतियो की एक आवश्यक मांग है।

नागार्जुन के उपन्यास जिस भाषा मे लिखे गए हैं उसका प्रधान स्वरूप खडी बोली है। खडी बोली का क्षेत्र कितना विस्तृत और विविध है कि आज उसका कोई सुनिश्चित स्वरूप तय कर पाना कठिन लगता है। राजस्थान, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, उत्तर-प्रदेश, बिहार के अलावा कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली और हैदराबाद जैसे महानगरो मे वह आंचलिक ध्वनियो और प्रादेशिक छापो से युक्त है। एक ही शब्द दरभगा और इलाहाबाद मे अलग-अलग ध्वनियाँ ग्रहण कर लेता है। इसलिए नागार्जुन जहाँ विवरण पेश करते है वहाँ तो इलाहाबादी परिनिष्ठित खडी बोली से काम लेते है किन्तु पात्राओं की दुनिया मे उतरते ही वे उनकी बोलियों के अदाज को भी पकड लेते हैं। 'वरुण के बेटे' मे बंगाली बाबू की हिंदी का नमूना देखिए—

"घो घोन, छेडे दाओ (छोड दो) हिआ (यहाँ) आ जाओ—हम डी० टी० एस० को फोन करता है···विहान (सुबह) मिलिटरी आएगा तब माँव को लेसन देगा (भीड को सबक सिखाएगा)···हुआँ (वहाँ) जास्ती देर मत ठहरा (खडा) रहो रे बुडबक (भोंदू)।"··· पृ० 94। कुंभीपाक मे नेपाली नौकर दिवाकर शास्त्र से कहता है—"हुजूर, खाना तइयार है'।" (पृ०79)

"कम्पाउण्डर की बीबी ने दिल ही दिल मे अपने से कहा—"छिनाल कही की। उडती चिडिया की पूछ मे हल्दी लगाने वाली रॉड। किस कदर बात बनाती है'··· पृ० 19 कुम्भीपाक।

"हमारे दफ्तर मे चौदह ठो दैनिक आता है। सात ठो वीकली'''पृ० 13. अभिनदन (हीरक जयती) का यह वाक्यांश—"सरकार (ललनजी की कुर्सी के पीछे खडा होकर) ए गो बाबू आपको चाल पाडते हैं, उनको यही ले आवें हजूर?" पृ० 100.

रतिनाथ की चाची मे ऐसे ढेर सारे शब्द हैं जो टिपिकल मिथिलाइट हैं। ऐसे शब्दो के लिए लेखक ने पाठको के लिए टिप्पणियो का अश भी जोडते हुए लिखा है—"हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र बहुत बडा है। पूर्वी हिन्दी के ठेठ शब्द पश्चिमी हिन्दी के क्षेत्र

क पहुँचते-पहुँचते 'अजनबी' हो जाते हैं। इसी तरह पश्चिमी हिन्दी के शब्द पूर्वी हिन्दी के अंचलों में अपरिचित लगते हैं—"ऐसी स्थिति में इस आंचलिकता को दर किनार कर हिंदी के पाठकों की भाषायी एकता के प्रति न्याय नहीं किया जा सकता। नागार्जुन के दिमाग में यह जिम्मेदारी पूरी मुस्तैदी के साथ काम करती रहती है। परिणामत वे बोली और लिखी गई भाषा की विभिन्न भंगिमाओं को समेटने की कोशिश करते हैं। विशेष ध्यान यह रहता है कि वह चरित्र-सगति की कसौटी पर खरी उतरे। सस्कृत नाटको मे शूद्र और महिलाएँ प्राकृत बोलते हैं जबकि पढ़े-लिखे द्विज सस्कारो के लोग टकसाली सस्कृत। अपने उपन्यासो म भी नागार्जुन इस बात का पूरा ध्यान रखते हैं कि सामाजिक और आर्थिक स्तरों की विभिन्नता के कारण भाषा-भेद कहाँ और कैसे पैदा हो जाता है'। किन्तु जहाँ वे खुद चीजो, दृश्यों, ऋतुओं और प्रसंगो पर विचार व्यक्त कर रहे होते हैं वहाँ उसका एक और भी रूप उभरता हुआ दिखाई देता है। ऐसे स्थलो पर भाषा बेहद काव्यात्मक, चित्र विधान परिपूर्ण और गम्भीर विचारोपयुक्त हो उठी है—

चित्रात्मक भाषा का स्वरूप वरुण के बेटे में—

'खुरखुन के होठ अलग-अलग फैल गए और बत्तीसी बाहर झाँकने लगी। दाँत क्या थे, पकी-पोढ़ी लौकी के पंक्तिबद्ध बीज थे मानो। वैसे ही सफेद, साबित और यकसां। पृ० 22.

काव्यात्मक अंग की बानगी—

"शाम होने मे अब भी विलम्ब था। गढ पोखर का प्रशान्त नील-कृष्ण विशाल वक्ष हौले-हौले लहरा रहा था। हमती दिनात के प्रियदर्शी रवि की पीताभ किरणें उसकी लोल-लहरियों पर बिछ-बिछकर अपने को नाहक पैना रही थी।" पृ० 112.

सूरज अब लुक-झुक, लुक-झुक कर रहा था, लेकिन सडक और डूबते सूरज के दरम्यान गढ पोखर की ऊँची भिड खडी थी।" पृ० 116

विचारपूर्ण भाषा का रूप इस प्रकार देखिए—

"समाज उन्ही को दबाता है, जो गरीब होते हैं। शास्त्रकारो को बलि के लिए बकरे ही नजर आए। बाघ और भालू का बलिदान किसी को नही सूझा।"

रतिनाथ की चाची, पृ० 58

ब्राह्मणो के समाज पर टीका-टिप्पणी करन का अवसर पाकर बिरजू अहीर को सचमुच ही बडी खुशी हुई। वह बोला—जब ऐसी बात थी, तब क्यो जयदेव बाबू ने सबसे राय नही ले ली? और समाज को भी अब सोचना पडेगा कि इस जमाने मे किसी को एकघरा बनाकर छोडा नही जा सकता। हजाम अगर बाल नही बनाएगा तो क्या? इस्टीसन पर दिन की गाडी के वक्त दस-दस हजाम दाढी बाल बनाने को तैयार बैठे रहते है। जाति-पाँति नहीं किसी को पूछते। (रतिनाथ की चाची, पृ० 89।)

उपन्यासकार की भाषा की सफलता का प्रमाण है उसकी वर्णन-विश्वसनीयता, जो नागार्जुन को हासिल है। साथ ही वे बीच-बीच मे 'मुस्कान की बुकनी' जैसे लोक सौन्दर्य वाले बिम्ब, 'लजकोटर' जैसे टिपिकल देहाती प्रयोग और 'इस्टीसन' जैसी

ध्वनि विकृतियाँ भी अपना लेते हैं जिनसे उनकी भाषा की रंगीनी और विविधता का पता लग सकता है। उनके उपन्यास पण्डित पाठकों के लिए नहीं उस आम आबादी के लिए लिखे गए हैं जो साहित्य के सहयोग से जीवन को नये सिरे से समझना-बूझना चाहते हैं। यास्क ने कहा था—अपने कर्म की सफलता का प्रमाण पाना चाहते हो तो लोक से जाकर पूछो। नागार्जुन का सारा कला धर्म इसी 'लोकपृच्छा' की आधार भूमि

लगेगी। भोजन असह्य हो जाएगा। आंचलिक शब्दों का इस्तेमाल करते हुए वे इसका बराबर ध्यान रखते हैं। क्योंकि उनके कथा लेखन का मुख्य धर्म आंचलिकता का उभार न होकर राष्ट्रीय जीवन के समकालीन यथार्थ से ऐतिहासिक संक्रमण के बिन्दु पर टकराना और नयी राहों की ओर इशारा करना है। उनकी कला लोक जागरण की इस प्रतिज्ञा का कदम कदम पर पालन करती है।

राष्ट्रीय मार्क्सवाद और नागार्जुन

अपनी पुस्तक 'आलोचना के नये मान' मे समकालीन कविता के बुनियादी चरित्र-परिवर्तन की चर्चा करते हुए लेखक ने लिखा है कि "समकालीन कविता से सरोकार रखने वाला प्रत्येक समीक्षक आज इस बात से सहमत है कि पिछले दिनो हिन्दी कविता मे पुन एक बुनियादी परिवर्तन घटित हुआ है। आजादी के बाद दो दशको तक प्रवाहित रुग्ण व्यक्ति केंद्री प्रवृत्तियो से उसे अब ही उबारा जा सका।" कर्णसिंह का यह निष्कर्षकारी वक्तव्य प्रगतिशीलो के लिए जितना खुशनुमा है, उनके अपने भावी कर्मों के प्रति चुनौतीपूर्ण भी है। ऐसा लगने लगा है कि हिन्दी कविता का मंच पूरी तौर पर प्रगतिशीलो के हाथ मे आ गया है और इस विश्वास मे अब सदेह की कोई गुजायश नही है। सातवें दशक मे जितनी अधिक गोष्ठियां, लेखक सम्मेलन और पत्रिकाओ का प्रकाशन इस बिरादरी की ओर से हुआ है, उतना पांचवे और छठवें दशक मे नही। पांचवां दशक नयी कविता का तो छठवां किस्म-किस्म की कविता का दशक कहा जायगा। आज जबकि हमारा समाज राजनीतिक उठा-पटक के दरम्यान आ खडा है, जनता को प्रशिक्षित और राजनीतिक दृष्टि से प्रौढ बनाने की जिम्मेदारी प्रगतिशील कविता पर आ पडी है। कविता यह काम कितना कर पा रही है और कालान्तर मे किन किन मजिलो तक पहुँच पायेगी—यह अभी देखना बाकी है। इसी सदर्भ मे कुछ पुराने सवालो को उठाने और उनका उत्तर खोजने की भी जरूरत आज की कविता को है।

पश्चिम बगाल के नक्सली आदोलन ने जब आतक का सहारा लेते हुए ईश्वरचद्र विद्यासागर या बग-महापुरुषो की प्रतिमा-भजन का कार्य किया था तो बुद्धिजीवी समाज ही नही, सारा जन समाज क्षोभ और चिन्ता मे डूब गया था। सवाल यह था कि क्या प्रगतिशीलता के रास्ते मे हमारी जातीय उपलब्धियां आडे आ रही हैं? क्या हिन्दुस्तानी मार्क्सवाद को भी धर्म को अफीम मानने की जरूरत है? हिन्दुस्तानी मन को ठीक-ठीक पकडने के लिए यहां के राष्ट्र प्रेमियों, देशभक्तो, समाज-चिन्तको और सुधारकों की वैचारिक फजीहत एक खास लहजे मे कितनी जरूरी है? इन्हे लोक-मन से उतारने की कोशिश क्या सचमुच प्रगतिशीलता की अनिवार्य शर्त है? क्या कविता इतनी क्रातिकारी है कि वह समस्त अतीत को नकार कर नये राग-सम्बन्धो की रचना कर सकेगी? प्रगतिशील कविता के लिए ये सवाल विचारणीय हैं।

वेणु गोपाल ने एक बातचीत क दौरान यह स्वीकार किया था कि भारतीय मन के कुसस्कारों को गाली के जरिए नही बदला जा सकता। लोकमन के प्रति गहरी प्रेम भावना और धीर गभीर तर्क-निष्ठा ही उन्हें अपदस्थ कर सकेगी। इसीलिए प्रगतिशील कविता का एक काम अपने भीतर उस गहरे और आत्मीय रागभाव को पैदा करना

है, जो परिवेश के प्रति उसे प्रामाणिक अनुभूति दे सकेगी। दूसरे, उस सामान्य आदमी की जिन्दगी की उन जटिल और सूक्ष्म अध परतो को खोलने की कोशिश करनी होगी, जो उसे देखने और समझने से निरन्तर वंचित करती आ रही है। यही नागार्जुन और उनका लेखन हमारे लिए एक आदर्श की तरह उभरने लगता है।

नागार्जुन नये और पुराने समस्त प्रगतिशीलो में सबसे अधिक संवेदनशील और लोकोन्मुख कवि रहे हैं। भारतीय आबादी के जितने स्तरो और रूपो का पता उन्हें है, उतना इस युग मे शायद किसी दूसरे को नही। वे पूर्वी बिहार के गाँव मे पैदा हुए। आज भी गाँव से उनका रिश्ता टूटा नही है। दरिद्र किन्तु ब्राह्मण परिवार के सदस्य होने के नाते अपने युग के सामंतो जागीरदारो से लेकर मध्यजातियो और गरीबी की रेखा को परिभाषित करने वाली जातियो के सम्पर्क की भी सुविधा उन्हें मिली। काशी की विद्वन्मण्डली, पडे-पुरोहितो ने उन्हें इसलिए आत्मीयता दी कि वे दरभगा के मैथिल पं० वैद्यनाथ मिश्र हैं और परम्परागत अर्थों मे साहित्याचार्य भी। उसी काशी मे नागार्जुन *गरीब छात्रो, विधवाओं और उन रिक्शा-इक्कावालो के भी सम्पर्क मे आए जो सामंती* और पूँजीवादी समाज की व्यवस्था के शिकार रहे हैं। नागार्जुन का एक पाँव आज भी कस्बो मे रहता है तो दूसरा महानगर मे। महानगर उन्हें लुभा नही पाता और कस्बा उन्हें निराश नहीं करता। महानगरो मे वे कनाट प्लेस और चौरगी के बजाय उन सीलन भरी बस्तियों म रहते हैं जहाँ छोटे-मोटे दुकानदार, ट्यूशनिस्ट अध्यापक, विज्ञापन की खोज मे आती-जाती रोजगार खोजती युवतियां, कल-कारखाने मे काम करने वाला मजदूर, आफिस मे माथापच्ची करने वाले बाबू रहा करते हैं। नागार्जुन यहाँ एक सदस्य की हैसियत से आते-जाते रहते हैं। पटना, इलाहाबाद, 'सागर', विदिशा या तरौनी गांव या फिर केदारनाथ अग्रवाल का बांदा सब उनके आकर्षण के केन्द्र हैं और वे सब की पारी पूरी करते रहते हैं। घुमतू तबीयत ही उन्हें श्रीलका और तिब्बत भी ले गई। वही उन्हें एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक, एक अनुभव से दूसरे अनुभव तक भी ले जाती है। इसीलिए जन-जीवन की जितनी पकड इस कवि को है उतनी केदार और त्रिलोचन को भी नही। केदारनाथ अग्रवाल ने खुद ही यह कहा है कि—"मेरी धारणा यह है कि हमारे यहाँ भी जितना सचत और जागरूक, सवेदनशील वह रचनाकार होता है, जो जनता से आया है, उतना कोई और नही। जैसे बाबा नागार्जुन का उदाहरण है। उनकी कविताओ मे वही बातें मिलती हैं, जो जन आदोलन म उभरती हैं।" [पूर्वग्रह सित० अक्टू० 79] जो लेखन साहित्यिक अध्ययन का परिणाम है, वह पण्डिताऊ तो हो सकता है किन्तु प्रामाणिक नहीं। नयी प्रगतिशीलता के लिए तो आज यह प्रामाणिकता और भी जरूरी है जबकि वह समूचे साहित्यिक परिदृश्य का नेतृत्व करने का दम भर रही है। किन्तु उसकी प्रामाणिकता महानगरो की बहसो या किताबो से कदापि अस्तित्व ग्रहण न कर पायेगी। उसके लिए प्रत्यक्ष जन सम्पर्क अनिवार्य है। नया प्रगतिशील कवि भी धीरे-धीरे कैरियर बाजी की ओर बढने लगा है और सरकारी शहद का स्वाद भी उसे मिलने लगा है। प्रजातन्त्र के नाम पर चलने वाली पूँजीवादी सरकारें ऐसे प्रतिष्ठानो को विलय केन्द्रो

की तरह तैयार भी करने लगी हैं जहाँ वामपंथी आधुनिकता का ताप क्रमशः ठण्डा पड़ने लगता है और अग्निमुखी सेनाएँ एक रोज बर्फ की नदी बन जाती हैं। किताबी मुहावरों, साहित्यिक लटको और तापहीन वासी अनुभवो की भीड मे जातीय जीवन की ताजगी तब हवा हो जाती है। आज यह खतरा निरन्तर बढ़ता जा रहा है क्योंकि प्रगतिशील कविता और आलोचना भी अपने पुराने कला-कर्मों मे रुचि लेने के बजाय समकालीन प्रतिस्पर्धी आधुनिकता की प्रहारबाजी मे लगी हुई है। सन्' 74 के बिहार आंदोलन मे जब जे० पी० के साथ रेणु और नागार्जुन कूद पड़े थे तब प्रगति पथियो को यह बात बहुत नागवार गुजरी थी और उन्होने नसीहत के तौर पर इस लेखक की वैचारिक अस्मिता पर सदेह प्रकट करना शुरू कर दिया था। और आज वे ही लोग जबकि अपनी समर्थन नीतियो का पोस्टमार्टम कर रहे हैं, नागार्जुन की कविता अब भी उसी जनता के साथ है, जो गाँवो और कस्बो मे निरन्न और अधिकार वचित जीवन जी रही है।

जनता ही उनकी माँ-बाप है, वही उनका ईश्वर भी। धरती और जनता के प्रति उनकी यह गहरी आस्था ही उनकी कविताओं और उपन्यासो को राष्ट्रीय बनाती है। गाँवो से लेकर शहरो तक वे उस जनता को जानते है जिसे हिन्दुस्तान मे आम आदमी कहा जाता है, जो दर्जा चार तक पढ़ी-लिखी है और कम से कम दोनो जून का भोजन पा लेती है। नागार्जुन की कविताएँ इसी आम आदमी के पीछे भटकती रहती हैं, रेडगार्ड बनकर। उनकी चिन्ता अपने देश के इसी आदमी के भविष्य और वर्तमान को लेकर है। अन्तर्राष्ट्रीय सर्वहारावाद प्रकारान्तर से एक साम्राज्यवादी नारा है जो सम्पन्न साम्यवादी देशो के लिए उनकी हेठी प्रदर्शित करने मे उनकी मदद करता है। चीन और रूस जब एक नही हो पा रहे हैं, तब अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद का मतलब किसी से छिपा नही रह जाता। ईसाई आदि धर्मों जैसी भौगोलिक समरूपता की सार्वत्रिक खोज

है। हिन्दुस्तान जैसे देश मे साम्यवाद ठीक उसी तरह नही भी आ सके जिस रास्ते रूस या चीन मे आया। प्रत्येक देश की अपनी अलग जमीन और अलग आसमान हुआ करता है, वह सयोग से यहाँ भी है। सास्कृतिक और ऐतिहासिक दृष्टि से हमारी सम्पन्नता हमे लज्जित करने वाली नही। इसलिए उसकी पैठ को नकारना या उसके सार्थक और जीवत अशो की उपेक्षा करके मार्क्सवादी राज्य का सपना देखना, सपना देखना ही है। यह कहना होगा कि हिन्दुस्तान के वामपंथी राजनेताओं को विशेषकर हिन्दी प्रदेशो की जनता के लोकमन की पहचान अब भी नही है। मार्क्सवादी दलों के महान नेतागण (?) आम जनता की कौन कहे, अपने प्रति सहानुभूति रखने वाले बुद्धि-जीवियो से भी बराबरी का व्यवहार करने मे अपना अपमान समझते हैं। नागार्जुन, त्रिलोचन और रामविलास शर्मा इसके उदाहरण हैं। क्या कारण है कि बौद्धिक मोर्चे पर इन लेखको की निष्ठा की खबर पार्टी बॉसेज को तो है, पर वे आज भी इन्हें अपनी बराबरी का दर्जा नहीं देना चाहते और दावा अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद का करते हैं। रामविलास शर्मा जैसे प्रखर और लोकमेधा सम्पन्न लेखक भी उस दृष्टि से नितात

निष्क्रिय बने बैठे हैं। क्योंकि वे अब भी जनता की सांस्कृतिक गहराइयों और लोकमन तक को पहचानने और पकडने की कोशिश म है। वे आज भी यह मानते हैं कि छायावाद एक सांस्कृतिक काव्यान्दोलन था और उसका विरोध करना भारतीय सस्कृति का ही विरोध कहा जायगा। 'भारतीय' और 'सस्कृति' जैसी सज्ञाएँ जिन्हें नापसद हैं वे भले ही अन्तर-राष्ट्रीय विश्व म पूजे जायें, पर यह सभव नही कि वे देशी-नेह-छोह के भी भागी बन सकेंगे। प्रगतिशीलता जिनके लिए रूस जाने की सिदती है, उन्हें निरतर लेनिन-लेनिन जपना पडता है और तब कही मामला सध पाता है। देशी सरकारो या उनके कल-पुर्जों को खुश करके अहोभाग्य प्राप्त किया जा सकता है। पर इस अहोभाग्य स किस आम आदमी का क्या भला होने वाला है? या अब तक क्या हुआ है? क्या अब भी वामपथी दल इस मुगालते मे हैं? और क्या आज भी वे अपनी जडें जनता के बीचो-बीच नहीं रोपना चाहते? क्या अभी भी वे दूसरे दलों के कधो पर लल बबुओ की तरह बैठकर हिन्दुस्तानी मन की यात्रा करना अपनी रणनीति मानते हैं? शायद नही। पर इस दिशा मे उनकी ओर से अभी तक कोई सक्रिय और असरकारी सकल्प नहीं दिखता। इस निरतर चूक को वह व्यक्ति कैसे बर्दाश्त करता जाय जो आम आदमी भी है और आम जनता का कवि भी। जिसने अपना पूरा जीवन उस जनता के चरणों म अर्पित कर दिया है। जो प्रत्यक्षत जनता क सघर्षों स जुडा हुआ है। जिसका अपना अलग कोई सुख नहीं है। जिसकी अपनी अलग कोई जात नही है। नागार्जुन ऐसे ही आदर्श पुरुष-कवि हैं। वामपथ उनके लिए अपनी जनता के सघर्षों से जूझने का साधन है। रूस-चीन या लेनिन-माओ की पूजा का पोथा नही। इसलिए वे निरतर अपना ध्यान जनता के खिलाफ होने वाले हमलो पर लगाए रहते हैं। चाहे जवाहरलाल नेहरू का शासनकाल हो चाहे इदिरा गाँधी का, वे हर वक्त शासन की जन विरोधी नीतियो के जबर्दस्त प्रति-वादी रहे हैं। उनके प्रतिवाद की यह आग कभी मद नही पडी, बुझने की कौन कहे। कारण है, जनता के दुःख की सच्ची अनुभूति। उसकी पीडा का सही बोध—

भटक गया है देश दलो के बीहड वन म
कदम कदम पर सशय ही उगता है मन म
नेता क्या हैं, निज निज गुट के महापात्र हैं
राष्ट्र कहाँ है शेष, शेष बस 'राज्य' मात्र हैं

× × ×

देश की गरीबी, भुखमरी, अकाल, बाढ, राजनीतिक पडागिरी, 'प्रगति पथिकों के शर्मनाक समझौते और भोली भाली जनता की निरन्तर उपेक्षा इस कवि को बेचैन किए रहती है।

सम्पूर्ण क्रांति स लेकर छद्म क्रांति तक की सारी वीभत्सता से वे अपनी जनता को निरतर आगाह करते रहते हैं—

1 खिचडी विप्लव देखा हमने
भोगा हमने क्रांति विलास

अब भी खत्म नहीं होगा क्या
पूर्ण क्रांति का भ्रांति विलास

2. टूटी सींगोवाले सांडो का यह कैसा टक्कर था
उधर दुधारू गाय अडी थी
इधर सरवसी बक्कर था
समझ न पाओगे बरसों तक
जाने कैसा चक्कर था
तुम जनकवि हो तुम्हीं बता दो
खेल नही था, टक्कर था

जन प्रशिक्षण के लिए लिखा गया यह साहित्य समाजवादी संघर्ष के रास्ते को कितना प्रशस्त करता है, इसे बताने की जरूरत नहीं। कला और साहित्य की जमीन पर बिना इस बारीक समझ के न तो जनवादी लेखन किया जा सकता है न ही जनता के निकट पहुँचा जा सकता है। नागार्जुन जैसे लेखक यह समझते है कि आज भारतीय जनता की चेतना का विकास नये आधुनिकतावादी नारो से नही होगा। न ही उसकी परम्परागत धार्मिक और सामाजिक निष्ठाओं को गाली देकर हम उसका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर सकेंगे। सव्यसाची जैसे लेखको की किताबें शायद ही उस जनता को पकड पाएँ जिनके लिए वे लिखी गई हैं।

हमारे राजनीतिक क्रान्तिकारियो को सबसे पहले उस लोक चेतना को जगाने का काम करना चाहिए जिसका उद्धार वे करना चाहते हैं। यहाँ विप्लव दास गुप्त ने अपनी पुस्तक 'दी नक्सलाइट मुवमेण्ट' मे उक्त आन्दोलन की असफलता पर जो विचार व्यक्त किए हैं वे गौर फरमाने लायक हैं—"नक्सलवादियों की सबसे भारी भूल तो यही है कि वे हिन्दुस्तानी जनता को हिंसक क्रांति के लिए मानसिक रूप से तैयार समझ बैठें। उन्होंने यह भी पूर्वानुमान कर लिया कि आम जनता राजनीतिक तौर पर प्रबुद्ध हो चुकी है, और भारतीय सरकार की कोई भी पैंठ उसके बीच नहीं है। इस मुगालते मे जनता के बीच आर्थिक और राजनीतिक संघर्ष को भूमिका तैयार किये बिना ही वे सीधे सशस्त्र संघर्ष पर उतर आए। ऐसा करते हुए उन्होंने भारतीय शासको के महत्व को ठीक-ठीक नही समझा। और अपने बारे मे जो अदाज लगाया वह वास्तविकता से कुछ अधिक ही था। माना कि हिन्दुस्तानी जनता गरीब है किन्तु अकेले गरीबी के रास्ते से वह समाजवाद तक नहीं पहुँच जायेगी। आम जनता की गरीबी की व्याख्या केवल मार्क्सवादी खेमे ही नहीं करते दकियानूस साम्प्रदायिक दक्षिणपथी खेमो मे भी होती है। वे भी जनता तक पहुँचकर उसे पुराने विचारों के घेरो मे कैद रखना चाहते हैं उनकी अशिक्षा, पिछड़ेपन, जातिवाद, भाषायी और धार्मिक भावनाओ का शोषण करते हैं जबकि इन क्षेत्रों मे मार्क्सवादी आन्दोलन अभी भी अपनी पहचान नहीं बना सका है।" जरूरी है कि वह इन क्षेत्रों मे राजनीतिक दृष्टि से असजग, आर्थिक दृष्टि से निराधार और विपन्न जनता के बीच अपने बदले हुए तौर-तरीकों के साथ आए। उग्र वामपंथ की विगत असफलताओं और भावी सफलताओ के सन्दर्भ में विपिनचन्द्र ने अपन

पुस्तक 'नेशनलिज्म एण्ड कोलोनियलिज्म' म लिखा है कि भारतीय किसानो के बीच आज भी पर्याप्त राजनीतिक गतिविधियो का अभाव है। वामपथी दल शहरी मिल-मजदूरो, कामगारो के बीच जितन सक्रिय हैं, उतन देहातों म नही। परिणामत हिंदुस्तानी किसान का दिमाग अब भी सामत विरोधी न होकर सामत समर्थक बना हुआ है। हिन्दुस्तानी किसान अब भी धर्म, जाति, पराणपथ और कुसस्कारो का भारी पिटारा है। जब तक उस उन स्रोतो स विच्छिन्न करके वैचारिक दृष्टि स उदार और ग्रहणशील नही बनाया जाता तब तक क्रातिकारी परिवर्तनो की कौन कह, सशोधनवादी कार्यक्रमो का सपना भी नहीं देखा जा सकता। किसान सगठन के नाम पर आज भी जो सगठन किए जा रहे हैं उनम बडे जोतदारो का वर्चस्व है। वर्ण की दृष्टि स भी उनम ऊँची या मध्यम जातिवाले लोग सक्रिय हैं। छोटी जातियो, शोषितो, खेतिहर मजदूरो और समाज पीडितो का अब भी कोई सगठन नही बन सका है। भारतीय समाज म स्त्रियो, विधवाओ, परित्यक्ताओ की स्थिति आज भी बदतर है। हरिजनो को शासकीय पैमाने पर चाहे जितना लाभ पहुँचा दिया गया हो, सामाजिक तौर पर उनकी स्थिति ज्यो की त्यो है। वामपथी दल भी अन्य दलो की तरह नयी सामाजिक चेतना को जागृति करने के बजाय सत्ता के खेल म ज्यादा रुचि ले रहे है।

नागार्जुन क लखन को इसी पृष्ठभूमि पर देखा जा सकता है। अपने उपन्यासो मे भारतीय महिलाओ विशेषकर विधवाओ, परित्यक्ताओ, अनाथ प्रताडित और परिवार-वचित युवतियो के साथ साथ गरीबीवश बूढ खूसटो के हवाले हलाल किय जाने वाले बकरो की भाँति कर दी जान वाली किशोरियो की पीडा का वणन करते हैं। इतना ही नही वे इन पीडाओ के पीछे काम करने वाली सामाजिक रूढियो की ओर भी इशारा करते हैं। अगले उपन्यासो म उनकी य महिलाएँ सामाजिक पारस्परिकता के आधार पर निर्णायक और असरकारी फैसलो की ओर बढती दिखाई देती है और नयी पीढी के तरुण युवक उनका साथ दते हैं। उपन्यासो म ऐस युवक-युवतियो की कमी नही है जो दकियानूसो, रूढिवादियो की पात म घुसकर नयी मर्यादाएँ स्थापित करने का काम करते हैं। आयसमाज तो विधवा विवाह तक ही चलकर आता है, नागार्जुन उसस भी एक कदम आगे बढकर उग्रतारा जैसी युवतियो का विवाह करवात हैं जो विधवा तो खैर थी ही, परिस्थितिवश पराए गर्भ को भी ढो रही है। यहाँ वे डा० लोहिया के नारी सम्बन्धी विचारो स सहमत जान पडत हैं। नागार्जुन की प्रगतिशीलता चूकि सामाजिक इतिहास से सीख और प्रेरणा लकर विकसित हुई है, इसलिए उसम जबदस्त क्रातिकारी कूद के बदले एक क्रमिक वैचारिक विकास दिखाई दता है। खरगोशी प्रगति और चितकबरे विकास का उन्होने हमेशा विरोध किया है और बार बार लोगो का ध्यान उन मूल मुद्दो की ओर खीचने की कोशिश की है जो हिन्दुस्तानी जनवाद की प्रारभिक सीढियाँ हैं। वे किसी भी जबानी निन्दा या जबानी प्रगति के झाँस मे नही आते। बल्कि अपने सारे लेखन को परिवतन के मच के तौर पर इस्तेमाल करते हैं। बलचनमा, वरुण के बेटे म वे पिछडी जातियो, हरिजन गाथा (कविता) म भारतीय शूद्रो की सघर्ष क्षमता और समूहबद्धता का सकेत करत दिखाई देते हैं, जिसके बिना कोई लडाई जीती ही नही

जा सकती। चाहे समाज प्रताडित नारी वर्ग हो, चाहे अधिकार वंचित पिछडी गरीब जातियाँ—नागार्जुन सबको 'सामूहिक प्रचेष्टा' की प्रेरणा देते हैं। स्वार्थ की व्यक्तिगत भावना से ऊपर उठकर लोकस्वार्थ की सामूहिकता में परिणत हो जाने वाली चेतना ही सुखमय जीवन ला सकेगी। राजनीति के क्षेत्र मे काम करने वाले सभी लोग भाषा, जाति, धर्म और द्विजत्व के खिलाफ मौन साधे हुए हैं। साहित्य मे कुछ लोग इन सारी ठोस बातो से बचने के लिए आधुनिकता का जामा पहन चुके हैं। नागार्जुन ठीक मोर्चे पर हैं और उनकी शब्द-सगीनें उन सारे लोगो पर तनी हुई हैं जो किसी न किसी रूप मे हमारे राष्ट्रीय दुश्मन है। हिन्दू मठो और महथो को भी उन्होंने अपने निशाने मे लेते हुए 'जमनिया का बाबा' जैसा उपन्यास लिखा है। धर्मप्रेमी जमात के ढोग-ढकोसलो पर प्रहार करते हुए उन्होने मूल धार्मिक भावना की मानवीय सवेदना को आदर और श्रद्धा से देखा है। 'जमनिया का मठ' पर अखबारी कतरनो का हवाला देते हुए वे लिखते हैं—"*असम्भव चमत्कारो का जाल बिछाकर दूर-दूर तक के लोगो को फाँसा जाता है*—पिछडी जातियो की बहुएँ और बेटियाँ गुंडो की वासना का शिकार बनाकर छोड दी जाती हैं'''जमनिया का मठ भारतमाता की पीठ पर पक्षाघात का जहरीला फोडा है। इसे हम कब तक बर्दाश्त करेंगे ?" धार्मिक पाखण्डो के प्रति इतना सुनियोजित वैचारिक आक्रमण करते हुए भी वे हिन्दू समाज की ऐतिहासिक धर्मभावना की रचनात्मक प्रवृत्तियो का पोषण भी मस्तराम के इस आत्मचिंतन के माध्यम से करते हैं—"अपने हिन्दू-समाज पर बार-बार मेरा ध्यान जा रहा है। हजारो वर्ष गुजर चुके हैं और बाहर से आ-आकर पचासो जातियाँ इस समाज के अदर घुल-मिल गई हैं। आर्य-अनार्य, शक-हूण मगोल-किरात'''सबका लहू हमारी रगो मे हरकत कर रहा है। अरब, यहूदी, मुगल, पठान, ईरानी जाने किस-किस की धडकन हिन्दुओ की इस जादुई काया को जान-दार बनाये हुए है। हमारी बिरादरी क्या कोई छुई-मुई का पौधा है जो छू देने से सिकुड जाएगा ?

एक साधू के नाते, मुझे यह सवाल जरा भी परेशान नही करता है कि बाबा जन्म से मुसलमान होने पर भी क्यो हिन्दू साधू बनकर हमारे बीच अपने को पुजवाता रहा ? हम सदियो से मुस्लिम फकीरो, ईसाई सतो को अपनी श्रद्धा-भक्ति देते आए हैं, उनके हाथो का प्रसाद ग्रहण करके अपने को धन्य माना है। हमारा समाज इतना क्षुद्र कभी नही होगा कि इस सिलसिले को खत्म कर दे।" भारतीय देहातो मे जाते हुए मार्क्सवाद को नागार्जुन के ये सकेत भी समझने पडेंगे। आम गरीब जनता तो क्या सामान्य मध्यमवर्ग भी अपनी गरीबी और अशिक्षा से तग आ गया है। ठेठ जातिवाद लेकर क्या वह चाटेगा। पर सीधे गाली देने से भी हम उसका उद्धार नही कर पायेंगे। हरे कृष्ण कोन्नार जैसे अतिवादी वामचिंतको की लीक पर चलकर हिन्दुस्तानी जनता को पकड़ पाना कठिन होगा। सुधार, सशोधन की मजिलें भी तय करनी होगी और समाज की दुखती रगो पर उँगली रखते हुए उन सभावना केन्द्रो को उद्बुद्ध करना होगा, जो आगामी परिवर्तन के माध्यम बन सकेंगे। कुछ दिनो पहले निराला ने लिखा था—

आज अमीरो की हवेली
किसानो की होगी पाठशाला

इस लिखावट को चरितार्थ करने के लिए स्त्रियो, शूद्रो, आदिवासियो और गरीबो के बीच सामाजिक चेतना और राजनीतिक जागरण लाना होगा। अवतारी शैली में दृष्टि दलन का काम करने वाले लोग कभी भी वह समाजवाद न ला सकेंगे जिसकी कल्पना वे किये बैठे हैं। हिन्दी के प्रगति पथी लेखक भी काफी किताबी और सभ्रात होते जा रहे हैं। जिस जनता के लिए वे किताबी मुहावरो का इस्तेमाल कर रहे हैं वह पढना-लिखना ही बहुत कम जानती है। 'गभीर आधुनिक चिंतन' उसके पल्ले कैसे पडेगा — यह सोचना बाकी है। जनता के लेखको की भारी कमी है। जनता के लिए लिखनेवाले तो हमेशा ही बहुतायत मे रहे हैं। नागार्जुन जनता के लिए जनता का साहित्य लिखते हैं, जनता के लिए बुद्धिजीवी लेखन नही करते। उनकी राजनीतिक कविताओ, यथार्थवादी कथाओ को पढकर मेरे इस कथन पर विचार किया जा सकता है। नागार्जुन का मार्क्सवाद यहाँ हमे राष्ट्रीय और सांस्कृतिक परम्पराओ की गोद मे बैठा हुआ मिलेगा। गाँवो का भाई-चारा, पारस्परिक विश्वास सहयोग, नाते-रिश्तो की सामाजिक जडें उसे पढते हुए अधिक गहरी होती हैं किन्तु पाखण्ड, ढोंग, शोषण, सामती-हेठी और पुरोहितवाद का फट्टा साफ हो जाता है। जिस नय समाज की रचना हम करना चाहते है उसके लिए तरुण युवक-युवतियो की वह सकल्पित पीढ़ी भी हमे यहाँ मिलती है। नागार्जुन न सामान्य जनता के बीच पडे ऐसे गुमनाम समाजवादी युवको की ओर हमारा ध्यान खीचा है जो अपने जागरूक आचरणो का ढिढोरा न पीटते हुए भी नयी समाज रचना मे तल्लीन हैं। एक लेखक के नाते वे देश की हर आम और खास समस्या से जुडे हुए है पर उनके सन्दर्भ मे दो बातें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और ध्यान देने लायक है। प्रथमत. वे राष्ट्रवादी हैं। राष्ट्रीयता को बाहर या भीतर से ठेस पहुँचाने वाली कोई भी विचार-धारा या क्रिया के वे सबसे पहले शत्रु हैं। दूसरे सोपान पर वे *जनवादी हैं जो तमाम* प्रकार की सुधारवादी, सशोधनवादी, परिवर्तनवादी, उदारताओं के साथ धीमे-धीमे आगे बढ रहा है। राजनीतिक या धार्मिक शक्तियाँ अगर इसके आडे आती हैं तो उनका मुँहतोड जवाब भी वे देने मे तत्पर हैं। तीसरे स्तर पर **उनकी कलम एक सच्चे भारतीय सर्वहारा की कलम है जो खुद को ही अपना नियता मानता है। खुद के सघर्षों के आधार पर ही जो अपना भविष्य रचने की तैयारी मे है।** सत्तामुखी राजनीति की दक्षिण-वाम प्रणालियाँ जिस ठग नही सकती। अतर्राष्ट्रीय जनसघर्षों और राष्ट्रीय क्रातिकारी दिखावो के बीच जो सीधे स्थानीय सघर्षों से जुडकर अपनी गवई, कस्बाई जनता के साथ उनके सुख दुःख म बिहस-भोग रहा है। बिना उद्धारक मुद्रा अख्तियार किये जो अपने आस-पास की जानी-पहचानी दुनिया के नय नैतिक और साहसिक आचरणो की पीठ थपथपा रहा है, उसकी क्रातिकारिता अगर भारतीय कम्युनिस्टो की निगाह मे बहकी या भटकी जान पडे तो चारा ही क्या है? जनान्दोलनो मे शामिल होने से अगर उसकी समझ बचकानी लगने लगे ता बेहतर है हम अपने चश्मे की धूल पोछें और उसके इन शब्दो पर गौर फरमाएँ—"अपन तो 'तप रे मधुर मधुर मन।' वाला माहौल कभी

पसद नही कर सके न ? यहाँ तो जडता का 'अचलायतन' खिसकाने के लिए, छद्म-वाम के इन्द्रजाल को नग्न करने के लिए, सामाजिक राजनीतिक सडाँध से छुटकारा दिलाने के लिए, लबी अवधि तक गृह युद्ध की परिस्थिति पैदा करके आम जनता मे प्रवल प्रतिरोध की अकूत शक्ति उभरने के लिए, शोपक शासक वर्गों को आपस म ही विनष्ट होने देने के लिए नग्न फासिज्म तक की 'अगवानी" करने को उतावले हो उठते हैं कभी कभी।" 7 जनवरी 80 का पत्र।

सर्वहारा समाजवाद के उन्नायक लेखक की ये पक्तियाँ हमे जहाँ पहुँचाती हैं क्या वह सचमुच फासिज्म समथन की मजिल है ? क्या लेखक वर्तमान सामतवादी पूंजी-वादी चरित्र वाले गणतत्र का समथक है और उसमे अन्य कई समकालीनो की तरह सुरगें लगाने की जुगत भिडा रहा है। या वह अव भी अपने लेखन के मोर्चे पर इन विकृतियो का पर्दाफाश कर रहा है ? क्या उसकी बुनियादी दृष्टि म कही कोई फर्क आ चला है या हमारा सभी क्षुक ही उसे लेकर अव तक किसी मुगालते म था। कवि की एक कविता है—यह कैसे होगा ?

> भौतिक भोग मात्र सुलभ हो भूरि-भरि
> विवेक हो कुठित
> तन हो कनकाभ मन हो तिमिरावृत्त !
> कमलपत्री नेत्र हो बाहर-बाहर,
> भीतर की आँखें निपट निमीलित !
> यह कैसे होगा ?
> यह क्योंकर होगा ?

पत ने 'ज्योत्स्ना' नाटिका मे छायावादी काल म कभी यह कल्पना की थी कि पश्चिम का शरीर और भारत की आत्मा का समन्वय ही नयी सृष्टि की पहचान होगा। नागार्जन की इस कविता मे भौतिक भोगो के साथ-साथ भीतरी चेतना की अमदता और सक्रियता का आग्रह किया गया है। सभ्यता के एकागी और अतिवादी विकास का समर्थन कोई भी चिन्तक कैस करेगा ? सम्पूर्ण मनुष्यता का आग्रही चिन्तन ही वस्तुत हमारा राष्ट्रीय चिन्तन है। और हम इस ओर स बखबर नही हो सकते। जनता के बाहरी विकास क साथ-साथ भीतरी विकास की फिक्र नागार्जुन जैस प्रगतिशीलो को है। जड भौतिकवा और जड आध्यात्मिकता—दोनो ही अतिवाद की सृष्टि करती हैं। भिक्षु नागार्जुन लेखक नागार्जुन होकर भी इस विख्यात भारतीय मध्यमार्ग को भुला नही सके हैं। यही पहुँचकर उनकी भारतीयता और प्रगतिशीलता की असली पकड सभव है। सकीर्ण मतवाद या राजनीतिक कठमुल्लेपन क वातावरण म किसी भी सवेदन-शील, स्वाधीन और दृष्टिसम्पन्न लेखक को नही समभा जा सकता—चाह वे नागार्जुन हो या रामविलास शर्मा। नयी कविता क्रातिकारी विरासत स विद्रोह' शीर्षक लेख म डॉ० शर्मा लिखते हैं,—"गांधी और नहरू की आलोचना सार्थक तब होती है जब आप राजनीति और साहित्य को जन-जीवन के और निकट ले आए हों, जब आप ज्यादा दृढता से भारतीय जनता को शोपण और गरीबी स मुक्त करन की दिशा मे आग बढ

हो। किन्तु नयी कविता के समर्थक जब भी राजनीति की बात करते हैं, वे समाजवाद के लिए संघर्ष के सवाल को दायें-बायें छोड़कर आगे बढ जाते हैं। नागार्जुन को समझने के लिए समाजवाद के लिए संघर्ष की देशी शैलियों को समझना होगा। तभी हम उनके साहित्य का महत्त्व समझ पायेंगे।

नागार्जुन जब कविता पढ़ते हैं

कविता पहले ज्यादातर श्रव्य रही किन्तु आज वह प्रधानतया पाठ्य है। छापे की मशीनो ने उसे इस तरह लोकव्यापी और किताबी बना दिया है कि वह तरह-तरह से लिखी और पढ़ी जा रही है। केवल भारत मे ही नही पश्चिम मे भी उसकी शैली और व्यक्तित्व पर जबर्दस्त असर प्रेस का पड़ा है। पिछले युगो मे काव्य की बड़ी समृद्ध परम्परा थी। चारण और भाट समुदायो के इतिहासो पर गौर करने से यह रहस्य प्रकट हो सकता है। किन्तु ऐसा भी नही कि सारी कविता सिर्फ श्रव्य ही रही हो। बड़े-बड़े महाकाव्यो को दरबारो या लोकोत्सवो के बीच अनुष्ठानपूर्वक भले ही पढ़ा जाता रहा हो किन्तु तब भी यह अपेक्षा बनी रहती थी कि कविता का सबध सिर्फ श्रोता वर्ग से नही है, पाठक वर्ग से भी है। भक्तिकाल मे काव्य गायन और रीतिकाल मे मुक्तक पाठ की समृद्ध परम्परा के बावजूद पोथियाँ तैयार होती रही हैं और निश्चय ही उनके पीछे आगामी पाठको की कल्पना काम कर रही होती थी।

हमारे समय की अधिकांश कविताएँ 'लिखतम' बनकर रह गई हैं। परिणामतः कविता का जो तीव्र प्रभाव पहले था वह क्षीण हो चला है। हमारे कवि शायद यह भूल ही चुके है कि भाषा का बुनियादी स्वभाव बोलना और सुनना है। जबकि कविता भाषा मे ढलती हुई भी निरन्तर लिपि बनती जा रही है। यह एक प्रकार की दुर्घटना है। लिपि एक चाक्षुष माध्यम है। ज्यादातर यान्त्रिक। भाषा बोलने वाले के समूचे व्यक्तित्व को हमारे सामने पेश करती है। उसकी ऊर्जा और मुद्रा, उसके अनुभवो की सीधी धड़कन हमे सुनाई पड़ती है। लिपि यह काम नही कर सकती। इसलिए पाठक और कवि की सवेदना के स्वरूप मे काफी भिन्नता आती गई है। इतना ही नही लिपिबद्ध होने के नाते वह बहुत कुछ बिक्री की चीज बनी और बहुतो के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति जैसी भी, जो कविता पुस्तको को बडे पैमाने पर खरीद कर अपनी आलमारियो मे सजा कर रख सकते हैं। कवि-सम्मेलनो ने एक दूसरी ही स्थिति पैदा की। कविताएँ रिकार्ड कर ली जाती हैं। सग्रह की वस्तु। श्रोता की अपनी कोई भूमिका अब रही नही। अगर उसके पास पर्याप्त पैसा हो तो वह ऐसे न जाने कितने संग्रह कर सकता है। यह सब मशीनी युग का कमाल है। कवि को इतनी भी स्वतन्त्रता नही है वह अपने पाठक चुन पाए। पाठक उपभोक्ता बन गया है। वह अपनी इच्छानुसार खरीद और पढ़ सकता है। इसलिए कविता के ढेर सारे ब्रॉण्ड और पाठको की किसिम-किसिम की जातियाँ हैं। और यह प्रक्रिया अस्वाभाविक भी नही। कविता का स्वरूप यदि पिछले युगो मे बदला है तो उसके पाठक भी बदले हैं। उपभोक्ता सस्कृति के इस युग मे वह उपभोग्य हो चली है। जबकि वह एक गंभीर और सूक्ष्म मानवीय श्रम है। इसे समझने वाले लोग प्रायः बहुत कम रह गए हैं। ज्यादातर लोग इसे भी विपुल उत्पादन का ही एक और उदा-

हरण मान बैठे हैं। इसलिए कविता उनके जरूरी क्षणो और बुनियादी जरूरतो की चीज न होकर वक्त काटने और रजन करने की ही कोई वस्तु है। वह भी बहुत थोडे लोगो के बीच। रेडियो जैसे माध्यमो ने उसकी श्रव्यता को और भी आघात पहुँचाया है। वहाँ कवि इतना सिकुडा सिमटा और फार्मल रहता है कि उसका काव्यपाठ ज्यादातर निर्जीव और व्यर्थ लगने लगता है। वेणु गोपाल न अपने एक विचारक्रम के दौरान यह स्वीकार किया था कि रेडियो पर जब कविता पढता हूँ तो लगता है शून्य मे पढ़ रहा हूँ। मानवीय उष्मा नही पैदा होती।' लिपिबद्धता ने जहाँ कविता को अधिक कला सजग किया है वही रेडियो जैसे साधना ने उसकी व्यर्थता को भी प्रमाणित करना शुरू कर दिया है। कवि और श्रोता के बीच मशीन का यह व्यवधान कितना फूहड और क्रूर है कि सोचते ही बनता है। आश्चर्य तो तब होता है जब इस क्रूर और फूहड माध्यम से पूरे के पूरे कवि सम्मेलन तक प्रसारित होते हैं। हमारे समय के आर्थिक दबावो के चलते इन दुघटनाआ म कोई कमी आएगी—ऐसा मैं नही मानता। यह जरूर लगता है कि सही कविता इन माध्यमो से दूर होती जाएगी और सही कवि रेडियो पाठ स कुछ ज्यादा ही अनमन्यस्क।

आज जबकि अधिकाश लेखन आम आदमी के पक्ष का दावेदार है, कविता भी घनघोर रूप से प्रतिबद्ध और जुझारू होती जा रही है। शायद यही कारण है कि तात्कालिकता का बोध एक अनिवार्य काव्यगुण बन गया है। इस नाते कुछ कवि जो अब भी कविता को लोकसवाद मानते हैं काव्यमचो से अपनी कविताओ का पाठ करते हैं। निराला और दिनकर जैस कवियो ने काव्य पाठ की एक विरल परम्परा स्थापित की। किन्तु बच्चन जैसे लोगो ने उस एक सामाजिक मनोरजन म ढाल दिया। यह सही है कि बच्चन के काव्य पाठ ने कविता और कमाई के अनेक दरवाजे खोले कि तु कवि के भाँड होने और सट्टा लिखकर रात भर नाचने की कुप्रथा की शुरुआत भी कर दी। इसस कविता सुनने वाला का एक और वर्ग सामने आया। नवधनाढ्यो का, जो ऊपर स तो कला और सस्कृति की ठकेदारी करता हुआ समाज सवक कहलाना चाहता है किन्तु भीतर स सारी कविता को विचारहीन और बाजारू बना रहा है। कलकत्ता और बबई जैसे महानगरो म ऐस ठेकेदारो की जाति ही तैयार हो गई है। माँग के अनुसार खपत करने वाले कवियो की एक पूरी जमात हर शहर-कस्बे मे विद्यमान है जो इस सबसे अधिक लाभप्रद धन्धा मानकर अपने व्यवसाय की निपुणता को निरतर विकसित कर रही है। उर्दू हि दी दोनो ही शैलियो मे यह तमाशा जोर पकडता जा रहा है और सही कविता प्रबुद्ध गोष्ठियो मे ही सिकुड़ कर रह गई है।

नागार्जुन और भवानी प्रसाद मिश्र हमारे समय के दो ऐसे उदाहरण हैं जो बहुप्रचारित बाजारू कवि सम्मेलना के मच से भी गभीर विचारोत्तजक कविताएँ पढ लेते हैं। जिन्होने आज तक मच स कोई समझौता नही किया किन्तु जिनके श्रोता मचीय कवियो से जरा भी कम नही हैं।

नागार्जुन को मैंने कई बार कविता पाठ करते हुए सुना है। देखा है। वे उन आधुनिक कवियो म से हैं जिन्होने कविता को किताबी मात्र होने से निरन्तर बचाया है।

ऐसी भी कविताएँ उनके पास हैं जिन्हें सिर्फ सुनकर तत्काल नही समझा जा सकता किंतु उनके पाठ आयोजनो की भी विभिन्न जगहें और तदनुसार पृथक श्रेणियाँ हैं। वे विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागो, कवि सम्मेलनो, गम्भीर गोष्ठियो और नुक्कड सभाओ के अलावा मजदूरों के बीच भी अपना काव्य-पाठ करते है। इसलिए उनकी एक कविता दूसरे पाठ स्थल के वक्त नहीं पढी जाती। मसलन जब वे अल्प साक्षर श्रोताओ के बीच काव्य पाठ शुरू करते हैं तब उनके चुनाव मे पहला नम्बर 'पाँच पूत भारत माता के' जैसा कविता का रहता है। इसमे गणित के अको के अवरोह के साथ अर्थ का आरोह सुनाई देने लगता है। विश्वविद्यालयों की गोष्ठियो मे वे प्राय अपनी सुहागिन कविता 'बादल को घिरते देखा है' जरूर सुनाते हैं। और ऐसी कविताएँ वहाँ बचा ले जाते हैं जो राजनीतिक तौर पर बेहद उघडी और नगी होती हैं। वहाँ वे 'तो फिर क्या हुआ' और 'सौन्दर्य प्रतियोगिता' जैसी व्यग्य कविताएँ सुनाते हैं या फिर 'मन्त्र'। गम्भीर रसज्ञजनो के बीच नागार्जुन अपनी कलात्मक कविताओ की बानगी पेश करते है और ताजा कविताएँ सुनाकर उपस्थित श्रोताओ को अपनी निरतर सजगता और सक्रियता की सूचना भी देते हैं।

जिन्होने उन्ह देखा है, वे मेरी बात की तसदीक करेंगे कि नागा कवि का कद कितना नाटा और काया कितनी दुर्बल है। चेहरा एकदम गँवई किसान का। आँखें निहायत मामूली सादी। लिबास कुछ भी। कुरता-पायजामा टोपी या फिर लाँगकोट-पैण्ट विनोबाई कनटोप, बढी हुई दाढी या फिर बिल्कुल सफाचट। ऐसा सरूप लेकर जब कोई व्यक्ति कवि के नाम पर सामने आता है तो नायकप्रिय हिन्दी जनता कितनी निराश होती होगी। नाम बडा होने से क्या, दर्शन भी तो कुछ न कुछ होना ही चाहिए। पर नही। नागार्जुन का बडा नाम ही उनके दर्शन को बडा कर दता है। क्योकि उसके पीछे कविता की दुरन्त जीवन शक्ति काम कर रही है। सामाजिक स्वीकृति ने जिसे उनके व्यक्तित्व का पर्याय बना दिया है। अगर व्यक्तित्व न हो तो नाम मात्र सज्ञा है। 'नागार्जुन' जो बौद्धभिक्षु और हिन्दी कवि दोनों हैं। सन्यासी और परम गृहस्थ। प्रज्ञावान और अति सामान्य। प्रकाण्ड पण्डित और सुपठ किन्तु पडिताई के बोझ से मुक्त। स्नेहिल, उदार, वसुधैव कुटुम्बकम् को अपनाने वाले। तब भी कुछ लोगो पर फिदा और कुछ पर बेहद कुपित। रुष्ट और अभिशापोन्मुख। महासत कि 'सीकरी' को ओर ताकें नहीं। और ऐसे अनुरागी कि प्रेम की जगहो पर पुन पुन लौटते हुए 'मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै' को चरितार्थ करें।

एक बार लायस क्लब ने काव्य-पाठ के लिए बुलाया तो वहाँ वे वमन स गए और गिनकर छह कविताएँ सुनायी और उदास मन लौट आए जैसे कोई पाप करके लौटे हो। और उसी शहर मे जब आपातकाल म जनकवि सम्मेलन आयोजित हुआ तो रात के दो बजे तक नवजवान कवियो को सत्ताविरोधी कविताएँ सुनत हुए पुलकित बैठे रहे अगहन की रात मे। बिना इस चिन्ता के कि ठण्डे मौसम म दमा उखड सकता है।

मच पर वे कविता ही नही पढते, पुलकित होकर पक्तियो को दुहराते हुए चुटकी बजाते और नाचते भी हैं। उनका यह विश्वास है कि इससे कविता की अर्थ-बढ़ोत्तरी

ही नहीं होती वह एक 'दर्शन' भी बन जाती है। 'इन्दु जी, इन्दु जी क्या हुआ आपको ?' जैसी कविताएँ उन्हें इतनी उद्दीप्त कर देती हैं कि लगता है दुर्बल शरीर के भीतर साक्षात् दैवी शक्ति उतर आई है। नागार्जुन का चरम पाठ-पुरुषार्थ वहाँ देखा जा सकता है जहाँ श्रोता का दिमाग हँसोड़ या गलेबाज कवियों की मार से लगभग अधमरा हो चुका होता है और उसके सज्ञा-सजग होने की गुंजायश बहुत कम बच रही होती है। पर यह कवि जानता है कि मरे हुए श्रोता को पैदा करने की तरकीबें कौन-सी हैं ! भाषा और छंद का कौन-सा इस्तेमाल उसे चेतना के नये छींटों से सचेत कर सकता है। वहाँ वे भी हँसी से ही अपना पाठ शुरू करते हैं किन्तु वह हँसी केवल हँसने के लिए नहीं होती। विचारोन्मुख और चिन्ता केन्द्रित करने वाली होती है। हास्य के रेगिस्तानों की ओर जाने वाले श्रोता समूह को वे चतुर चारवाहे की तरह बटोर कर विचारों की हरी-भरी धरती की ओर ले आते हैं, जहाँ भाषा के अनेकानेक आकाश और लय की उछलती कूदती तालबद्ध विपुल पगडंडियाँ हैं। छंदों के रंगीन झरने और संगीत की व्यापक निसर्गता है। लोक और शास्त्र के रोचक प्रसंग हैं। देश की ऊँची-नीची हरकतें हैं और उनके बीच हँस-रोकर गुजारा करने वाली, किन्तु धीरे-धीरे परिवर्तन के लिए तैयार होने वाली श्रमिक जनता है। उनका काव्य-पाठ मनोरंजन और उपभोग की वस्तु नहीं। एक ऐसा जरूरी माकूल संवाद है जो कविता की सामाजिक पहरेदारी ही नहीं सूचित करता बल्कि लोक समूह के सुषुप्त, मूर्छित किंकर्तव्यविमूढ़ मन को जाग्रत, उद्-बुद्ध और कर्मतत्पर भी करता है। तुलसीदास आदि के बाद यह नागार्जुन जैसे कवियों के ही वश की बात है कि हर स्तर का पाठक और श्रोता उन्हें अपना कवि मानने को विवश है, यदि उसकी किंचित रुचि भी मानव के नए भविष्योत्थान में है तो। यदि वह मनुष्य और उसकी बुनियादी समस्याओं से जुड़ा हुआ है तो नागार्जुन की कविता उसका साथ देती है। यदि वह जुड़कर लड़ रहा है तो उसका हथियार बन जाती है। वह चाहे तो इसे लेकर अपना हिरावल दस्ता तैयार कर सकता है। उन सारे लोगों को एक मंच पर ला सकता है जो सामाजिक विषमता के कोढ़ से ग्रस्त हैं। फिर भी हिम्मत हारे नहीं हैं। उसके विरुद्ध लड़कर छुटकारा पाना चाहते हैं। जिनका आशा भरा भविष्य दूर किसी लक्ष्य की तरह चमक रहा है।

नागार्जुन, भवानी प्रसाद मिश्र ही नहीं अब तो शरद जोशी जैसे गद्यकार भी अपने व्यंग्य लेखों को मंचों तक ले जाने लगे हैं। उस मंचों तक भी जो काका हाथरसी और माणिक वर्मा के समझे जाते रहे हैं। स्वयं शरद जोशी की यह मान्यता है कि जनता के लिए लिखे जाने वाले साहित्य को मंच पर जनता से क्यों मुँह चुराना चाहिए। अगर हमारा सारा लेखन चंद बुद्धिजीवियों और लेखकों की परितृप्ति और सोच-विचार के लिए है तो यह भी प्रकारांतर से उस विशाल आबादी से कटना है जिसे हम जनता कहते हैं। साथ ही इस धारणा को बल प्रदान करना भी है कि साहित्य और कलाओं के सच्चे श्रोता (?) या पाठक तो कुछ खास वर्ग और स्तर के लोग हैं जिन्हें परंपरा से हम 'रसज्ञ' या 'सहृदय' कहते आए हैं। यहाँ भी स्वयं प्राचीन रसवादी अवधारणाओं के आधार पर ही यदि विचार करें तो इस निष्कर्ष पर पहुँचना होगा कि रसानुभूति के

प्रसग मे रस कही बाहर से चलकर नही आता। उसकी सत्ता मानव मात्र मे विद्यमान रहती है। कलाओ के माध्यम से वह प्रकट मात्र होता है। इस लिहाज से वे सारी कविताएँ यदि अपनी तमाम शास्त्रीय मर्यादाओ का अतिक्रमण करती हुई व्यापक जन समूह को विचार विशेष के प्रति ध्यानमग्न करती हैं तो निश्चय ही सार्थक हैं और किसी भी स्तर पर उनका प्रतिवाद नही किया जा सकता। यह भी विचारणीय है कि जनता को चद लटकेबाजो या गवैयो के भरोसे क्यो छोड दिया जाय। अपने को गभीर और परिवर्तनकामी साहित्यिक मानने वाले कवि क्यो न उसे प्रशिक्षित करें। और मैं मानता हूँ कि हमारे समय की राजनीतिक कविता उस जनता की समझ मे ठीक-ठीक आ जाती है जो राजनीतिक पाखड देख रही है और गरीबी की मार से बेचैन और क्षुब्ध है। नागार्जुन जैसे वरिष्ठ कवि अपने काव्य पाठ से इसे बखूबी प्रमाणित कर चुके हैं। उनकी नुक्कड कविताएँ तो बिल्कुल ठेठ अदाज मे लिखी गई हैं जहाँ वे या तो नारा बन जाती हैं या फिर मन्त्र या गाली भी। कविता के इन आपद रूपो से बचकर आज नही निकला जा सकता। धूमिल जैसे कवि इसे सिद्ध कर चुके हैं। विनोद कुमार शुक्ल और विनय दुबे जैसे कवियों की कविताएँ किस तरह से जनता की बोली-बानी मे उसकी चिंताओ के साथ ढल रही हैं यह बताने की जरूरत नही। जरूरत अगर है तो यह कि हम अपनी पाखडपूर्ण मध्यवर्गीय मानसिकता के खोल से बाहर आकर उस आम आदमी के बीच उसके साथ अपनी कविता को लेकर खडे हो जाएँ। जिससे हमारे समय के दबावो मे पिसता हुआ आदमी कोई रास्ता पा सके और हमारी कविताएँ सिर्फ किताबी होने से बच सकें।

समाहार

नागार्जुन ने अपना सारा लेखन चार भाषाओं मे किया है—संस्कृत, मैथिली, हिन्दी और बगला मे। संस्कृत मे उनकी रचनाएँ बहुत थोडी हैं। हिन्दी मे प्रभूत। मैथिली म उनकी विशिष्ट देन के कारण 'यात्री-युग' ही चल पडा है। बगला मे अभी उनकी कविताएँ प्रकाशित नही हुई हैं। प्रकाशक और प्रकाशन को लेकर सोच विचार जारी है।

चार भाषाओ म लिखा यह साहित्य अभी भी पूरी तरह ग्रथबद्ध होकर सामने नही आ सका है। कहानियाँ, व्यक्ति लेख, यात्रा-साहित्य और सस्मरण पत्र-पत्रिकाओ मे ही दिन गुजार रहे हैं। उन्ह किसी समर्पित और दक्ष शोधकर्ता की अपेक्षा है। कविताओ का बहुत सारा जखीरा प्रगतिशील पत्र-पत्रिकाओं म अटा पडा है जो हिन्दुस्तान की जनता के काम आने लायक है। हाँ उपन्यास सभी प्रकाशित है और अकादमिक पाठको के हाथ पहुँचकर आचलिक अनाचलिक सज्ञाओं स विभूषित भी हो चुके हैं।

सन् 1925-26 से काव्य-लेखन की शुरूआत करने वाले साहित्यकार की यात्रा को आज अगर गणित के दायरे मे बाँधना चाहें तो पचास-पचपन वर्ष होते हैं। मोटा मोटी हिसाब पचास का हो सकता है। इस बीच महादेवी वर्मा और बच्चन अपना लिखना समाप्त कर लेखन सन्यास ले चुके है। कथा के क्षेत्र म भगवतीचरण वर्मा और अमृतलाल नागर सक्रिय हैं। दूसरी ओर अज्ञेय, भवानी मिश्र, शमशेर बहादुर सिंह, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल अभी निरतर लिख रहे हैं और बाद की पीढी तो सक्रिय है ही। राजकमल चौधरी, मोहन राकेश, रेणु और धूमिल जैसी प्रतिभाएँ आकस्मिक और करुण मृत्यु की शिकार हो चुकी हैं। कितने सारे आदोलन पिछले पच्चीस बरसो मे उभरे है और पीढी दर-पीढ़ो अपना शोर मचाकर जा चुके है। आज न कही सचेतन कहानी का पता है, न ही ठोस या शमशानी कविता का। सूर्योदयी कविता भी दो-चार पोथियो म इतिहास बन चुकी है और युयुत्सावादी पीढी अभी भी युयुत्सा-आतुर। अकविता, अकहानी, अगीत, अ-निबध जैसे कितने ही दिग्भ्रमित और जूठे नाम हमारी आँखो के सामने अपनी तान तोडकर ओझल हो चुके है। और आज जब अपने पिछले तीस बत्तीस वर्षों का लेखा-जोखा करने बैठे हैं तो प्रगतिवाद प्रयोगवाद, नयी कविता और नवगीत जैसे कुछ ठोस नाम हमारे हाथ रह गए है, जिनमे से और भी कुछ इतिहास बनन की तैयारी म है। नागार्जुन न अपनी साहित्यिक साधना इसी बीच की है। सिद्धता उन्हें मिल पाई है या नही – यह फतवा देना हमारा काम नही। आलोचना मौका पडने पर यह कर्तव्य निर्वाह भी करती है किन्तु उसका मुख्य काम कृतित्व का विवेचन और विश्लेषण है। यो तो हिन्दी मे इस समय निर्णायक समीक्षा का बाजार गर्म है। फलत. लेखको पर अलग-अलग दलो मे नाम लिखाकर अपने को कृतार्थ करने का सकट आ

पड़ा है। स्वतन्त्रता इतनी अधिक प्रयुक्त हो रही है कि तर्क और विवेक के स्थान पर सिर्फ आग्रह ही आग्रह रह गये हैं। नित नये के प्रति आधुनिकों का आकर्षण इतना तीव्र हो उठा है कि अपने को धुरंधर और एकमात्र मानने वाले आलोचक भी युगीन धर्म और दायित्व का समुचित निर्वाह करने के बजाय असगत छलांगें लगाते नजर आ रहे हैं। पूछा जा सकता है क्या अज्ञेय, भवानी मिश्र, शमशेर, मुक्तिबोध या स्वय महादेवी वर्मा और जैनेद्र पर हिन्दी के स्वनामधन्य आलोचकों ने अपना दायित्व पूरा कर लिया है। अगर ये सचमुच इस लायक नहीं थे तो इनकी यह अयोग्यता क्या सिर्फ चुप रहकर सिद्ध की जा सकेगी? इस परिदृश्य को देखने पर कहना होगा कि हिन्दी आलोचना अपने ऐतिहासिक दायित्व से मुकर रही है। क्या कारण है कि आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी और डॉ० रामविलास शर्मा ने व्यावहारिक धरातल पर अपने दायित्व को समझा और अपने युग के वरिष्ठ रचनात्मक कृतित्व को समझने-समझाने की कोशिश की। प्रसाद, निराला, पत, प्रेमचद, महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचद्र शुक्ल का जो प्राप्य था उसे इन आलोचकों ने देने की कोशिश की। डॉ० नगेंद्र जैसे अधीत विद्वान और मनीषी आलोचक और डॉ० नामवर सिंह जैसे प्रखर समीक्षक के खाते म अभी भी हिन्दी कृतित्व का ढेर सारा हिसाब ड्यू है। पत और छायावादियों पर हम आज भी डॉ० नगेंद्र की प्रतीक्षा म है, नये सिरे से। मुक्तिबोध, मोहन राकेश और प्रगतिशीलों पर नामवरसिंह विधिवत कब आते हैं, इसका इन्तजार है।

इसी बीच हमारा समकालीन लेखन पश्चिम के साहित्यिक नारों से खचाखच भरा है। आधुनिकता, नववाम, जातीय स्मृति, अस्मिता की पहचान, न जाने कितने ऐसे शब्द हैं जो हमारी देशी प्रतिभाओं को चमत्कृत करके उन्हें प्रतिभामूढ सिद्ध करने म लगे हैं। प्रासगिकता और पुनर्मूल्याकन उनके भी सन्दर्भ मे प्रयुक्त हो रहे हैं जिनका मूल्याकन ही अभी ठीक ठीक नहीं हुआ। प्रेमचद जन्मशती के इस कालखण्ड म उनकी प्रासगिकता को लेकर बहस की जा रही है और सारे प्रकरण को अपनी खास राजनीतिक विचार-धारा की ओर खीचने की बलात् कोशिश हो रही है। ऐसे साहित्यिक माहौल म अगर कुछ सतोषकारी है तो वह है हिन्दी रगमच और नाटक का द्रुतगामी विकास। जगह-जगह रगमडलियों की स्थापना और सक्रियता ने शब्द श्रम को अभिनयधर्मी बनाकर बड़े जन समूह तक पहुँचाने की जो सुखद चेष्टा की है वह हमारे लिए अवश्य ही उत्साह-वर्धक है। कवि सम्मेलन जगह जगह हो रहे हैं पर उनमे भडैती और गलाबाजी का जोर है। कला अकादमियाँ शास्त्रीय टाइप का कवि आयोजन चन्द प्रबुद्ध बुद्धिजीवियों के लिये कर रही हैं। साधारण पढ़ा लिखा आदमी तो पहले से ही कविता को लेकर काफी निराश था, अब अपने को तीसमारखाँ मानने वाला पाठक भी मकते म आ गया है कि उसे ऐसे शास्त्रीय कविता पाठों के प्रति कौन सा रवैया अपनाना है। नागार्जुन अपना साहित्यकर्म इसी दौरान सम्पादित कर रहे हैं।

राजनीतिक दृष्टि से इस बीच हम आजादी मिली। गाधी की हत्या हुई। जवाहरलालनेहरू का समाजवाद आया, चीन, पाकिस्तान और बगला देश से हमारे सबध बने-बिगडे, लालबहादुर शास्त्री और इदिरा गाधी के बाद मोरारजी और चरणसिंह

विकसित सर्वांगीण, और सतुलित धारणा हमे मिलती है। उनका प्रगतिवाद सबस पहले व्यापक अर्थो मे मानवीय है, फिर राष्ट्रीय। राष्ट्रीय समस्याओ को लांघ कर अन्तर-राष्ट्रीय ओलपिक मे उतरने की न उसकी कोई महत्वाकाक्षा है, न ही उतर पाने का कोई पछतावा ही। सबसे पहले वे अपने देश के प्रत्यक्ष सघर्षों—समस्याओ के निपटाने मे रुचि रखते हैं। इसलिए अति उदार अथच वायवीय और सार्वभौम मार्क्सवाद, ढोगी और इलेक्शनमुखी साम्यवाद उनके लेखन के दायरे मे आलोचना का ही पात्र बना रहा है—काग्रेसी नेताओ की तरह वामपंथी नेता भी लचकीलेपन का परिचय देने लगे हैं। वे भी जनता की 'धार्मिक' स्वतत्रता, 'सास्कृतिक' स्वतत्रता, 'चिन्तन' की स्वतत्रता और 'रहन-सहन' की स्वतत्रता पर जोर देने लगे हैं। वे कहने लगे हैं—इन बातो के लिए अभी किसी को न छेडो, लोग बिदक जायेंगे तो वोट नही मिलेगा, हम तो सिर्फ आर्थिक और राजनीतिक मसलो पर प्रकाश डालेंगे'''समाजवाद की चर्चा करना अब आम फैशन हो गया है। इसकी बातें करने से मुख शुद्ध होता है। कोढी के शरीर पर दिये हुए चदन की भाँति समाजवाद का सौरभ बडो की इज्जत बचाता है।" (निराला, पृ० 68) साम्यवाद और समाजवाद के ऊपरी रग-रोगन की चमक-दमक न तो उनके लेखन मे है न ही वह उनके जीवन को ही मोह मूढ कर सका है। उनकी पक्की धारणा है कि "झूठी-अहम्मन्यता से जिनके मन-प्राण दूषित नहीं हैं, दलित जन ही जिनके स्वजन आत्मीय हैं, अपनी भुजाओ और पैरो का ही जिन्हे सहारा है, ऐसे युवको के लिए सुख-सम्पदा आसमान से नही टपका करती, अपनी गाढी मेहनत से ही वे उसे पाते हैं।' इस लए उनके लेखन में उद्धारकर्ताओ और समाज सुधारकों के स्थान पर खुद अपनी लडाई लडने वाले स्त्री-पुरुषो की एक विशाल अक्षौहिणी हमे मिलती है। इस रूप मे वे प्रेमचद से काफी आगे निकल आए हैं। गोबर को गाँव छोडकर भागने की जरूरत नही। आज वह भोला, खुरखुन और मोहन माँझी (कामरेड) (वरुण के बेटे) के रूप मे गगा साहनी जैसे जमीदारो को बराबर की जोड मे मात दे रहा है। जीवू (बाबा बटेसरनाथ) के रूप मे किसानो का सगठन तैयार कर रहा है, जैकिसुन और उसके साथियो के रूप मे पुराने जागीर-दारो और नव-सामन्तो से बराबर की टक्कर ले रहा है, चम्पा, कुम्भीपाक और उग्रतारा के रूप मे भारत की स्त्रियाँ आत्मनिर्भर और साहसिक जीवत-निर्णयों की ओर बढ रही हैं, तथा गांव की इस धरती पर दुखमोचन जैसे युवक उभर रहे हैं जो सतुलित और समर्पित समाजसेवी व्यक्तित्व के धनी हैं। आजादी के बाद पाखण्ड और स्वार्थ का जो घनघोर अँधेरा शहरो से लेकर गाँवो तक फैला है उसमे नागार्जुन का लेखन अनगिन दीपाधरो की एक प्रकाशपक्ति है। अगर इतना भी हमारे सामाजिक जीवन मे उतर पडे तो गाँव शहरो के मुहताज नहीं रहेंगे न ही किसी क्रांति या विद्रोह की ऊपर स टपकने की प्रतीक्षा हमे करनी पडेगी। इस लेखक को पढते हुए बार-बार हमे अपने आसपास के धरती पुत्रो पर भरोसा होता है और यह भी सुझाई देता रहता है कि खतरो के बावजूद बाधाओ से एकजुट होकर निपटने वाली सेना हमारे पास है। सिर्फ उस सगठित करने की जरूरत है।

नागार्जुन का लेखन श्रमिक जनता की ओर से किया गया वह शब्दमेध है

जिसमे जड पुरातनता और वृद्ध जर्जर सामन्तवाद को आहुति दी जाकर जनवादी चेतना की दिग्विजय की घोषणा की गई है। गरीब ब्राह्मण परिवार का यह औघड़ शब्दकर्मी 'ब्रह्मपिशाच' की तरह न अपनी आत्मचेतन विशिष्टता की उधेड़बुन मे पड़ा है, न ही अपने को अद्वितीय और असाधारण मानते हुए पक्ति-समर्पण की कृपालु मुद्रा ही अपनता रहा है। टेलीप्रिंटर की तरह जो जनता के मनोभावो के प्रत्येक क्षण को टकित करता रहा, जिसने अपनी व्यक्ति पीड़ा को छिपाए रखा और लोक के सुख-दुख को ही परम सत्य समझा, उसी का नाम नागार्जुन है।

लोक की पीड़ा और सामाजिक क्षोभ ही उसके लेखन के प्रधान अनुभव हैं। पीडित मानवता को शोषण और अनाचार के खिलाफ खड़ी करके वह एक प्रतिरोधक मोर्चाबंदी करता है। नकली समाजवाद और छद्म वामपंथ के इस वातावरण मे वह ऐसा कैसे कर सका इसका सबसे बडा कारण उसका भारतीय जनता से गहरा सम्पर्क है। सारे प्रगतिशीलों मे जो कवि भारतीय जनता के चूल्हे-चौके तक पहुँचा हुआ है वह वही है। उसके पढ़ते हुए हम अपनी जनता के सीधे सम्पर्क मे आते हैं। उसकी सारी जानकारी कानो सुनी नही आँखो देखी है। प्रतीक, उपमान और मुहावरे तक जनता से लिये गये हैं। वह किताबो के जरिये जनता को नही जानता। जनता के बीच रहकर अपने शब्द की परीक्षा करता है। साहित्य और राजनीति की मोटी मोटी किताबें पढ कर जो लोग प्रगतिशीलता की तलाश यहाँ करेंगे उन्हे कोफ्त भी होगी और निराशा भी। किन्तु जो ठेठ जीवन शैली की खोज करते हुए इधर आयेंगे उनके हाथ बहुत कुछ लगेगा। वे यहाँ उत्साह और उमंग से परिपूर्ण संघर्ष भी पा सकेंगे और चांदनी रातो को आम के बगीचो मे होने वाला स्वस्थ्य अभिसार भी। प्रगतिशीलता अगर सिर्फ राजनीतिक दृष्टि नहीं है तो उसकी सर्वतोमुखी प्रतिष्ठा का साहित्य नागार्जुन जैसे लोग ही लिख पा रहे है। प्रकृति, नारी सौन्दर्य, यौवन और प्रणय के अनुभव भी यहाँ आपको मिलेंगे पर उसको पढ़ते हुए आपकी दृष्टि लोलुपता के अजन से अजित होने के *बजाय स्वस्थ रस-बोध से तृप्त हो उठेगी। सौन्दर्य की एक समग्रदर्शी कवि भावना* हमारी चेतना को क्षुद्र आकर्षणो से ऊपर उठाकर भारतीय सौन्दर्य बोध के उन उच्चतम शिखरो की ओर ले जायगी जहाँ रूप की ऊपरी पर्तें गुण और स्वभाव की गहरी और बारीक छननी मे छनकर सहज सतुलित और मर्यादित हो उठती हैं। वरुण के बेटे मे नागार्जुन लिखते हैं—"अपने मुँह पर से मगल की हथेली परे करके मधुरी ने कहा'''गांव गंवई के हम सीधे-सादे लोग ठहरे। हमारा प्रेमनगर कहीं समाज से अलग या ससार के बाहर आबाद हुआ है ?" शुक्लजी के शब्दों मे यह प्रेम का वह दूसरा रूप है जो अपना 'मधुर और अनुरजनकारी प्रकाश जीवन-यात्रा के नाना पर्थो पर फेंकता है। प्रेमी जगत के बीच अपने अस्तित्व की रमणीयता का अनुभव आप भी करता है और अपने प्रिय को भी कराना चाहता है। प्रेम के दिव्य प्रभाव स उसे अपने आस-पास चारों ओर सौन्दर्य की आभा फैली दिखाई पड़ती है, जिसके बीच वह बड़े उत्साह और प्रफुल्लता के साथ अपना कर्म-सौन्दर्य प्रदर्शित करता है। वह प्रिय को अपने समग्र जीवन का सौन्दर्य जगत के बीच दिखाना चाहता है।' यह वह प्रेम है जो

आगे चलकर सृष्टि का एक दिव्य स्वरूप विधान हमारे सामने करता है। नागार्जुन के साहित्य मे सुन्दर-बिलौटे, खुरदरे पाँव, दूधिया निगाहें, प्रेत की खडखडाहट और खूनी जीभो की खुमारी का एक बडा लम्बा चौडा विविध भगिमाओ से युक्त ससार हमे दिखता है। अगर परम्परागत सौन्दर्य का चश्मा लगाकर कोई प्रवेश करेगा तो मैं मुक्तिबोध की तर्क शैली म उससे पूछना चाहूँगा क्या गुलाब और सुरम्य घाटियो म ही सौन्दर्य होता है ? काले बजर स्याह पहाड मे नही ? क्या कभी आपने कुकुरमुत्ते को निराला की आंख स देखा है ? नागार्जुन के सौन्दर्यबोध की विशेषता है उसकी निरन्तर सक्रियता और सामाजिक उपयोगिता। कविता के सन्दर्भ मे वे उसी सौन्दर्य को महत्व दते हैं जो सप्रेषणधर्मी और लोक उन्नयनकारी हो। अभावों और अधेरो की ब्योरेवार लिस्ट पेश करके रह जाने वाले यथार्थवादी कवि वे नही हैं। उनका लेखन समकालीन मनुष्य के उस सपने को प्रस्तुत करता है जो आजादी न हमारे मनो म बीज के रूप म बोया है। पुराने का सर्वथा तिरस्कार और नये का अधाधुध ग्रहण वे कभी नही करते। दोनो की उचित प्रतिष्ठा उनका काव्य वैशिष्ट्य है। इसलिए मुक्तछद, गद्यछद जैसी अति आधुनिक टेकनीक का इस्तेमाल करते हुए वे दोहा, सवैया, कुण्डलिया, बरवै और लोकछदो को भी बेहिचक अपना लेते हैं। उनके पास एक स्वस्थ दिमाग और आग्रहमुक्त दृष्टि है जिस पर किसी भी मतवाद या साहित्यिक सम्प्रदाय की सकीर्णता हावी नही हो सकी है। वे अब भी कृतित्व के मामले मे तरुण साहसिक प्रयोक्ता हैं और उन बुजुर्ग शिरोमणियो स सर्वथा मुक्त और स्वच्छद जो वय और वातावरण के आतक म घुटत रह कर और अपनी निसर्ग अनुभूतियो पर अर्जित प्रतिष्ठा को दाँव पर लगा बँगला कविताएँ लिख रहे हैं जिनमे उनकी उम्र की छाप के बदले तरुण अनुभवा का ससार हिलोरें ल रहा है—

> तोमार धिआन सडे जाय माथाय व्यथा
> स्फुरित होये थाके अतरे रूपकथा
> को थाई छिलि हुई आमार तिलोतमे
> भूलि नि तो करवनी तोमाके सुमध्यमे !

(ओ सुन्दर कटिवाली मेरी तिलोत्तमे तू कहाँ थी। मैं तो कभी भी तुम्हे नही भूल पाया। तुम्हारे ध्यान स आज भी मेरे सिर का दर्द, भाग जाता है और रोम-रोम पुलकित हो उठता है।)

नागार्जुन का कृतित्व इसी कालातिशायी मानव तत्त्व की अतर्निहित उल्लसित तरगो की खोज यात्रा है। पर यह किसे पता नही है कि मानव तत्त्व के अतर्निहित उल्लास निरातक और समता के वातावरण म ही सभव हो पाते हैं, जिसकी लडाई लडनी पडती है। नागार्जुन का साहित्य इस ओर से भी बेखबर नही है इसे सिद्ध करने की जरूरत नही।

बातचीत—नवम्बर, 1979

तय कर लेने के बाद आप बातचीत कर ही लेंगे—नागार्जुन के सदर्भ मे यह एकदम झूठ है। हो सकता है कभी आपके हाथ मे कागज क्लम न हो और उनकी ठेंपी खुल जाय। फिर तो वे आपको घेरकर खडे हो जायँ कॉलरिज के उस पुराने नाविक की तरह जिसकी पकड इतनी मजबूत है कि आपको कही जाने की अपनी सारी आतुरता ही भूल जाय। वे बिना भूमिका के शुरू होते हैं और बीच-बीच मे मुद्दे से बाहर भी चले जाते हैं। मैंने उन्हें केवल कविता सुनाते हुए अत्यत ध्यानस्थ देखा है। उनके पास छोटी-छोटी डायरियाँ हैं, जेबी नोटबुक टाइप जिसमे अपन धोबी का हिसाब लिखते हैं। नागार्जुन की कविताएँ लिखी रहती हैं उनमे। वे झोले मे नही जेब मे रहती है। कहते रहेगे—मैं तुम्ह कुछ कविताएँ सुनाना चाहता हूँ जब फुर्सत मे रहोगे और इस ताक मे रहेग कि उन्ह और आपको फुर्सत कब मिलती है। जरूरी यह भी है कि वे तरोताजा भी हो। थकान के वक्त वे अक्सर चुप रहना पसद करते है। नहीं तो नाचते नजर आयेंगे। जो बातचीत मैं यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ वह महीने भर के टूटे बिखरे और बार-बार जुडे हुए सिलसिले की देन है। कुछ बातें दिल्ली के टैगोर पार्क वाले उस कमरे मे हुई जो उनका स्वामी निवास-सा बन गया है। अधिकाश बातें मेरे अपने घर पर हुई जब महीने भर के लिए वे मेरे महमान थे। कई-कई बैठको मे ली गई यह बातचीत कभी काफी सजग भाव मे हुई है, तो कभी मना करते-करते मैंने चुपके स टाँक लिया है। ऐसी भी चर्चा हुई जिसे रिकार्ड करने से मना किया गया, फिर भी मैंने उसे याद रखा और नोट किया। वे सारी चर्चाएँ आपके सामने हैं।

नागार्जुन मेरे यहाँ 17 नवम्बर की शाम आए थे। 18 को उन्ह कालिदास समारोह वाले कवि सम्मेलन की अध्यक्षता करनी थी। इसके बाद उन्हें सात-आठ रोज का एकान्त चाहिए था एक बाल उपन्यास (गरीबदास) पूरा करने के लिए। तय हुआ कि 20 नवम्बर की शाम को साँची चल देंगे और बौद्ध धर्मशाला मे अपना काम पूरा कर लेंगे। तब तक कोई बातचीत हो नहीं सकेगी। पर 20 को ही लौट आए, अधूरा काम लिए-दिए। 'तीन दिन और लगेंगे—तब तक मैं तुम्हारे पास न रहकर रघुनार्थसिंह क यहाँ रहूँगा। डिक्टेशन के वक्त शोभाकान्त मेरे साथ रहगे और रात म लौट आया करेंगे। मैं उपन्यास खत्म करक ही लौटूँगा।' 26 की सुबह उठते ही मैंने पाया कि जाने क पहल वे कुछ कहना चाहते हैं। 25 को राजेन्द्र माथुर (नई दुनिया) ने उन्ह मई मुद्दो पर कुरेदा था। भीतर ही भीतर वे बेचैन थे। चाय पीते-पीते उन्होने पुकारा—'सुनते हो विजय बाबू। सी० पी० आई० वालो म कठमुल्लापन बढ़ रहा है। जनसघी एक बार उदारता दिखा सकता है पर यह नहीं। और जब गांठ-गांठ करनी होगी तो जनसघी और कांग्रेसी सबके साथ कर लेंगे। कहेंगे—क्या हम अभी मुसर्वठ कर रहे

और कहीं हम जनमघियो के साथ बैठकर बातचीत करने लग जायें तो कहेंगे—अरे साहब वो तो गुमराह हो गए हैं। वो तो हमेशा से कन्फ्यूज्ड रहे हैं। अभी इम्मेच्योर (अपरिपक्व) हैं।'''अब उन लोगो से कौन पूछने जाय कि आप विधान सभा मे एक साथ गाँठ जोडकर जब प्रगतिशील बने रह सकते हैं तो क्या हम बातचीत करने से ऐसे हो गए। हमे छूत लग जायगी और उन्हें नही।'''

☐ आपको इसीलिए तो वे लोग टाट-बाहर किये रहते हैं—मैंने कहा।

पार्टी के इनर सर्किल मे आएगा तो मूलत. साहित्यकार नही रह सकता। मैं तो 62 तक सी० पी० आई० का सदस्य रहा। यह और बात है कि मेरी सदस्यता हमेशा ढीले किस्म की रही। इसीलिए कोई रिकॉगनिशन भी नही रहा। हिन्दी प्रदेशो के राजनेताओ को राजनीति के अलावा साहित्य-फाहित्य की परवाह नही है। मान लेता हूँ कि साहब जनता के अगले फ्रंट पर लडते हुए आपके पास इतना समय नही है, लेकिन उतना तो हो जितना गोर्की के पास जाने के लिए लेनिन के पास था। लेनिन गोर्की के पास जाता था। अक्तूबर क्रान्ति के दिनो मे गोर्की लेनिन के खिलाफ पर्चे निकालते थे। पर लेनिन को चिन्ता यह रहती थी कि गोर्की जाडे म राशन न मिलने पर ठिठुरकर मर न जायें। उसने गोर्की की हिफाजत के लिए एक आदमी रख दिया था। उतना दर्द तो हम हिन्दुस्तान के किसी राजनेता म नही पाते। जवाहरलाल नेहरू को तो हिन्दी वाला स कोई मतलब ही नही था। अब तो खैर अपना-अपना घर भरने वालो का मोर्चा बडा विशाल है।

☐ इसीलिए मैं आपको प्रचलित अर्थों मे प्रगतिवादी नही कहता।

हा। यह ठीक भी है। आजकल तो मार्क्सवादी / जनवादी / तमाम सज्ञाएँ हैं। मार्क्सवाद के भी इतने शेड्स हो गए हैं कि राष्ट्रीय, अतर्राष्ट्रीय मार्क्सवाद से लेकर चारू मजुमदार और चेग्वेरा तक फैला हुआ है। अब आप किसे सही कहेंगे किसे गलत। और इस बीच वे चतुर बौद्धिक भी हैं जो छलांग मारकर विदेश चले जाते हैं। वे लोग भी हैं जिन्हें लाभ-लोभ की राजनीति आती है। मैं ऐसा मार्क्सवादी नही हूँ। मेरे सन्दर्भ मे राष्ट्रीय मार्क्सवाद शब्द ज्यादा सही होगा। भारत मे ही क्यो सम्पूर्ण दक्षिणी एशिया म मार्क्सवादी तभी फलदायी होगा जब वह राष्ट्रीयता से जुडेगा।

(अचानक उन्हें चीन आक्रमण का सदर्भ याद आया)

अब देखो सन् '62 मे मैंने चीन के खिलाफ लिखा। मेरे लिए जरूरी नही था कि मै पार्टी महथो का मुँह ताकूँ। विडम्बना तो यह कि चीन को गाली छापने वाला सपादक चीन हो आया। अपने यहां ऐसे राष्ट्रवादियो की भी कमी नही है—गगा गए गगादास जमुना गए जमुनादास। पर ईमानदार कवि यह नही कर सकता। उसे अपनी आवेगशीलता की इज्जत तो करनी ही होगी। और ऐसे मे वह अथर्ववेद की अभिशाप शैली से घनघट की गालियो तक उतर सकता है।

☐ आप जिसे राष्ट्रीय मार्क्सवाद कह रहे है जरा उस समझाइए बाबा!

अतर्राष्ट्रीय साम्यवाद जब राष्ट्रीय हो लेगा तभी वह राष्ट्रीय मार्क्सवाद की सज्ञा पा सकेगा। मेरे लिए इसका मतलब स्थानीय समस्याओ और निकट के सघर्षों से

जुड़ना है। बाहर-बाहर तो हम प्रगतिशील बने रहे और भीतर वही प्रतिक्रियावाद काम करता चले तो फिर कैसी राष्ट्रीयता और कैसी साम्यवादिता।

मैंने देखा इधर के वामपंथी काफी असहिष्णु होते जा रहे हैं। वे लेखक को पार्टी की शर्तों पर पाना चाहते हैं जबकि आजकल पार्टी खुद साल छः महीने में अपने को बदल लेती है। उसे वे लोग बुरा नहीं कहते। तर्क यह देते हैं कि कई दिमागों के मिले-जुले निर्णय के तहत यह बदलाव आता है। पर उन्हें कौन बताए कि लेखक तो हजार दिमागों का प्रतिनिधि होता है। इस रूप में वह अगर पार्टी से हट जाय तो कोई हर्ज नहीं। 1917 की क्रान्ति में गोर्की खिलाफ थे, पर लेनिन ने उन्हें दुश्मन घोषित नहीं किया। अपने यहाँ स्थिति और है। और यही कारण है कि रामविलास शर्मा जैसे घनघोर मार्क्सवादी निस्पृह—स्लीपिंग पार्टनर—हो गए हैं। सज्जाद जहीर जैसे लोग हैदराबाद के पार्टी कार्यकर्ता का हालचाल पूछने तो चले जायेंगे, पर आगरा नहीं।

'62 में माओत्से तुंग को घरेलू संबंधों के चलते गाली दी, पर बापपन से इनकार नहीं किया। बाप रंडीबाज हो जाय तो क्या कहा जायगा उसे। मैं स्थानीय घटनाओं से निर्लिप्त होकर मार्क्सवादी नहीं रहना चाहता।

☐ मुझे लगता है इसीलिए डॉ० प्रभाकर माचवे जैसे मित्र आपको अराजकतावादी कहना पसंद करते हैं।

माचवे उन रिटायर्ड बौद्धिकों में से हैं जिन्हें कुछ मामलों में अज्ञेय भी पसंद करते हैं। कुछ में दादा धर्माधिकारी भी पसंद करते हैं। अब स्थिति ऐसी बनती है कि ···अराजक एक प्रकार से हल्का विशेषण है···समझ जाइए कि···उनकी बातों का मतलब क्या है। यानी इस आदमी पर ज्यादा ध्यान देने की जरूरत नहीं है। अगर कोई सोशलिस्ट हो जाय तो वे अपने को उससे अलग कर लेंगे। अज्ञेय ने सम्पूर्ण क्रान्ति के दिनों में 'एवरीमैन' के सम्पादन से अपने को अलग कर लिया। और बाद में जे० पी० के दर्शन भी महीने दो महीने में कर आते थे। यह लाभ उठाने वाली बात है। साहित्य में ऐसे लोग खुद को निर्दलीय-अदलीय मानते हैं पर किसी दल से गहरे रूप में जुड़े रहते हैं। जैसे कोई राज्यपाल निर्दलीय हो और बाद में कहे—मुझे भी पंक्ति में ले लो। या फिर किसी महाकुबेर के परिवार में उसकी रसाई हो जाती है। आचार शुद्धि के मामलों में ऐसे व्यक्तियों के प्रमाण-पत्र पर मैं ध्यान नहीं दूंगा।

(कुछ देर बाद गुस्सा शांत करते हुए फिर भभक उठते हैं।)

सूप कहे चलनी से तेरे बहत्तर छेद। हमें तो अपने इर्द-गिर्द के लोगों के रिमार्क का ज्यादा खयाल रखता है। जिन पात्रों पर लिखता हूँ या लिखूंगा उनका खयाल रहता है।

☐ इसका मतलब तो यह कि आप किसी से संतुष्ट नहीं?

हम तो इस प्रतीक्षा में होंगे कि कोई ऐसी पार्टी निकले जो इन तमाम वाम-पंथियों से अलग हो और जिसका नेतृत्व शोषित वर्ग से उभरे।

☐ क्या कर्पूरी ठाकुर और जगजीवन राम इस वर्ग के नहीं हैं?

नहीं भाई। गरीब ब्राह्मण भी हो सकता है। विधवा हो। जन्म से सिर्फ रविदास

कुल का न हो। रैदास हो भी। ये जगजीवन राम हरिजनों के नेता बनते हैं। नेता तो अम्बेडकर थे। इनका चूतियापा लोग बर्दाश्त कैसे करते हैं, (हम तो साहब साठ पार कर गए हैं गाली भी बक सकते हैं)

☐ फिर आपकी प्रगतिशीलता कैसे पहचानी जायगी ?

प्रगतिशीलों को सबसे पहले जमीन से जुडना चाहिए।

अब आप कहेंगे साहब कि बुड्ढा है। बकने दो। तो हम चाहें न चाहें बुढमस के शिकार तो हैं ही। तो हम कहते सुनते कुछ कह भी जायेंगे और इसका भी खयाल रखेंगे कि कोई ऐसी बात मुंह से न निकल जाय जो व्यक्तित्व पर बुरा असर डाले। बहुत सारी बातें ऐसी हैं जिन्हें हम सबके सामने नही कहते करते। और कोई आके कहो—आइने के सामने हँसो। ऋषियो ने कहा है—हमारे जो आचरण अनाचरणीय हैं उनको मत देखो। बातचीत करते वक्त हम इसीलिए बच्चो को भगा देते हैं। समाज मे कुछ मर्यादा-बधन तो चाहिए ही जो कुछ मिलाकर सामाजिक स्वास्थ्य के लिए लाभकारी होता है।

× × ×

अब स्थिति यह है कि जिसे हम आशीर्वाद देते हैं उसी मे आगे चलकर कुछ धूर्त तत्त्व उभर आता है, तो मेरी वितृष्णा हो जाती है। पर जैसे हर प्रवाह मे लाशें और सडी चीजें बहती रहती हैं और उन्हें छोडना पडता है वैसे ही बहुत सारी बातें हैं। जैसे बूढा पीपल और नये पत्तो के लिए आग्रहशील हो तो यह गलत है।

☐ आपकी बात से ऐसा लगता है कि आप हिन्दू धर्म के काफी नजदीक जा रहे है।

हिन्दू धर्म को व्यापक पैमाने पर मैं जनधर्म मानता हूँ। पर उसमे स आप सामतशाही और ब्राह्मणशाही हटा दीजिए। तुलसीदास के प्रति हमारी आपत्ति सिर्फ यही है—'पूजिय विप्र जदपि गुनहीना।' यह क्या मजबूरी है हमारी ?

☐ सामतशाही हटेगी कैसे ?

यह बहुत बडी बीमारी है। वामपथी पार्टियाँ भी इसकी शिकार हैं। सभी ऊँचे पदो पर ब्राह्मण बैठे हैं। या तो छोटे-छोटे टुकडो म कभी भारत बँटे और गृहयुद्ध मे ये चीजें जल जायें। पर हम जानते हैं—हमारी कल्पना से जैसे आशीर्वाद सफल नही होते वैसे अभिशाप भी सफल नही होंगे। हमे तो वे घोषित कर देंगे साला पगला गया है। इन्ही स्थितियो मे प्रखर बौद्धिक कभी-कभी ऊबकर गूँगा हो जाता है।

अतिचातुर्य तब गुण है जब जनमुखी हो। अगर उसका गुण सिर्फ अपना स्वार्थ-सिद्ध करना है तो रोग है, जिसके उदाहरण हमारे बहुत सारे मित्र है।

अब देखिए नोबुल प्राइज रवीन्द्रनाथ को मिला। मुझसे कोई पूछे तो हम शरत बाबू को देंगे। साहित्यिक गुणो के कारण शरत का ही नाम पहुँचता है। रवि का नही। अगर उनके पास खानदान और ऊँची प्रचार सुविधा न होती तो वे क्या होते ?

☐ रवीन्द्रनाथ तो हमारे अमर साहित्यकार हैं ?

अमरता बहुत बडा भ्रम है। सापेक्ष शब्द है। कालिदास के समय मे उसी चोटी के कवि रहे होगे। पर उन्हें सुविधा नही मिली होगी। इसी तरह शाश्वत शब्द भी भ्रम है।

☐ चाय ठण्डी हो चुकी थी। सांस तेज हो गई थी। चेहरे का तनाव बढ़ गया था। आगे की चर्चा स्वास्थ्यकर नहीं होगी यह सावधानी बरतनी ही थी। बाबा पलथिया कर तख्त पर बैठे थे। मैंने उनसे छुट्टी ली और वे रघुनाथसिंह के यहाँ अपना उपन्यास पूरा करने के लिए तैयार हो गए। लौटे वे 28 नवम्बर की शाम जब नवम्बर की हल्की फुहार पड रही थी। ठण्डक कुछ अधिक बढ़ गई थी। नीबू की चाय रखते हुए मैंने छेड़ा—बाबा आपको अब कुछ कविताएँ भजन शैली म भी लिखनी चाहिएँ। गीत तो आपने युनिक लिखे हैं—

हाँ। इसकी जरूरत तो है। रमेश रजक वगैरह लिखते हैं तो प्रगतिशीलता का बघार जरा ज्यादा ही लगा देते हैं। सब गुड-गोबर हो जाता है। जनता के मन की पहचान नहीं कर पाते—भजनो म तनाव कम करने की अद्भुत शक्ति है। सूर ने बच्चो के गीत बहुत लिखे। बेचारा बिना बेटे का था। अच्छा लगता रहा होगा उसे बच्चो का गीत लिखकर।

☐ भजन वाली बात पर बाबा को अपनी मालाएँ याद आने लगी जो इन दिनो वे अपने पास रखने लगे थे और यहाँ भी एक खरीदकर लाए थे। बोले—

तुम्हे एक मजेदार किस्सा सुनाएँ। मेरे पास पिछले दिनो दो तीन मालाएँ थी —तुलसी की, रुद्राक्ष की। दो-एक प्रगतिशीलो की निगाहो म यह बात आयी तो कानो-कान प्रचार करने लगे कि बुड्ढा सठिया गया है। दूर दूर तक के दोस्तो तक खबर पहुँची कि नागार्जुन के ये हाल है। माला जपने लगे हे। मगर सामने कोई कुछ न कहे। मरे एक देहरादूनी मित्र थे—ट्रेड यूनियन के लीडर। आए तो कहने लगे—'यह आपको बुढौती मे क्या हो गया है? क्या रिएक्शनरीपन है यह?' मैंने उनसे कहा—आप अपनी सिगरेट बिगरेट सुलगाइए फिर बताता हूँ। वे बोले—'नहीं साहब! पहले तो इस कमरे से बाहर चलिए।' मैंने कहा—देखिए आपको एक गुर की बात बताता हूँ। माला से सिर्फ रामनाम का जाप ही नही होता। मन की गाडी ट्रैक पर रहे—इसके लिए यह हमारे पूर्वजो की बहुत बढिया ईजाद है। अब इस उमर मे अगर आपका मन भागने लगे तो आप क्या करियेगा। सुनते हो विजय बाबू—मैंने उन्हे समझाया कि अगर जवानी के दिन याद आ जायें तो माला से बढ़िया क्या है? चुपचाप दो-चार बार नाम फेर लीजिये। दूसरे, मान लीजिए जुलूस निकला हो और आप इस बुढौती मे उसमे शामिल होने लायक न रहे तो कम स कम इसे लेकर बैठ जाइए और नारे दुहराते रहिये। आप को लगेगा आप जुलूस के साथ हैं। कोई जरूरी है कि इस्तेमाल भी हम पूर्वजो की तरह करें। हम इस्तेमाल बदल लेंगे। हमारे उन दोस्तो को यह तरकीब काफी पसंद आयी। तुमने सुना होगा नेहरू जी भी बुढौती मे माला रखने लगे थे। जवानी के बाद विद्यापति के जीवन मे भी एक क्षण आया था जबकि उन्हे—'माधव हम परिनाम निरासा' जैसा पद लिखना पडा। आदमी खाली बाहर की सुख-सुविधा से सतुष्ट नही हो सकता। उस भीतरी तौर पर भी शांति चाहिए। भीतर के सारे माहौल को नजर-अन्दाज करके सिर्फ बाहर के भरोसे कोई संस्कृति कब तक जिन्दा रहेगी? रूस गए तो वहाँ हम लोगो को गिरजाघर ले जाया गया। मैंने देखा—चार छ लाशें जिनको

दफनाने के पहले पादरी के द्वारा मत्र पढा जाना था। कुछ नये तरुण जोडे थे जो शादी के इन्तजार मे थे कि पादरी निपटें तो विवाह की रस्म पूरी हो। यह वहाँ का जीवन है —जहाँ बाहर-भीतर का तालमेल है। यहाँ तो यह सब होने पर हम घटिया किस्म के बुद्धिजीवी कहे जाते हैं।

प्रगतिशील कवियों को देखो वे कितने सिकुडते जा रहे हैं। अपने ही प्रतीकों को छोड रहे हैं। नेरूदा और चेग्वेरा किस तरह अपने प्रतीको का इस्तेमाल करते हैं। इसे न सीखकर ये लोग अपने प्रतीकों से नफरत करने लगे हैं और बात करते हैं जातीय इतिहास की। मैंने तो काली, दुर्गा, त्रिमूर्ति, पचमूर्ति जैसे प्रतीको का इस्तेमाल हमेशा किया है। सिन्दूर तिलकित भाल पर कविता लिखी है। अब कोई कहे कि मैं बिगड गया हूँ तो कहे। यह निर्णय करना लोगो का काम है कि मैं फेल हुआ या पास।

बौद्धिक क्षेत्रो मे तो जबर्दस्त गुलामी चल रही है। कौन कितना अपने को कठ-मुल्ला साबित कर सकता है। पराए साहित्य का जूठन लेकर कूडा परोस सकता है। प्रेम पर लिखना रिएक्शनरीपन मान लिया गया तो मैंने हिन्दी मे न लिखकर बँगला मे प्रेम कविता लिखी।

☐ हिन्दी मे आप अपने निकट किन-किन को पाते हैं ?

रामविलास, केदार (अग्रवाल) और त्रिलोचन को। शमशेर से बन्धुता जरूर है और *कभी-कभार उसकी रचनाओ को पढ़ भी लेते हैं पर वैसी नही जैसी केदार या त्रिलोचन से।*

गीतकारो मे वीरेन्द्र मिश्र और नईम के गीत मुझे अच्छे लगते है। रमेश रजक तो है ही। पर उसे अभी ऊँचा उठना है। शलभ (श्रीरामसिंह) को मैं शिल्प की दृष्टि से अच्छा मानता हूँ। उस छदो की पकड है। उर्दू पर कमाण्ड है पर उसे अपना हेड-क्वार्टर कलकत्ता नही बनाना चाहिए। वहाँ से निकलना चाहिए। अभिमन्यु की तरह उसे हमेशा सात महारथियों से तो नही क्षुद्र महारथियो से लडना पडता है।

☐ भवानी भाई के बारे मे आप क्या सोचते हैं ?

गाधीवादी कवि वणिक केन्द्रिक होने को बाध्य है। भवानी भाई इसके परम उदाहरण हैं। इसलिए राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ और बनियो—दोनो को प्रिय हैं। उनका मानवतावाद शोषण का उतना तीखा विरोध नही कर सकता। भवानी बाबू से मेरा अच्छा सम्पर्क था लेकिन बाद मे नही रह सका। जैसे घर का कोई आदमी ताडी पीने लग जाए—तो उन्होने हमको इस तरह घोषित किया। और हम से यह होता नही कि 'मन भी दहाडता रहे और मुस्कराते भी रहें'। आलोचनात्मक रूख मन मे हो और पूँछ लेकर पहुँच जाऊँ—यह नेता लोग करते हैं। हम से नही होता।

☐ अपनी कविता के बारे मे क्या आप सोचते हैं ?

मेरी रचनाएँ भी ऐसी होती हैं जिन्हे आप विदग्ध जनो को कह सकते हैं। बादल को घिरते देखा है, कालिदास जैसी। लेकिन शिक्षा का अनुपात कभी इतना नही होगा कि सब के सब कालिदास के मेघदूत का आनद ले सकें। इसलिए हमारे युग के कवि को मोटे मुद्दो को लेकर भी कविता लिखनी होगी। मेरे लिए सब अभी तो स्थायी

भाव है। जब तक है तब तक मुँह कैसे फेरा जा सकता है इस ओर से ? अब अगर आप को जन सामान्य तक पहुँचना है तो कविता की स्थिति-रजकता पर भी विचार करना होगा। मुगालता छोड़ना होगा कि आपकी हीग अच्छी, आपका हलवा अच्छा। मानता हूँ कि एक ही कलछी से सब नही चलाया जा सकता पर कुछ भावो को अगर जनता तक पहुँचाना है तो तुको का, सगीत का, राग का सहारा लेना पड सकता है। भाषा की नाटकीयता भी हमारा साथ दे सकती है।

मराठी मे देखिए, अभग को लोग कैसे गाते है। कानों मे घुस जाता है। तुलसी ने रामलीला का आविष्कार किया। रवीन्द्र सगीत का बगला मे अलग दर्जा ही है।

☐ इसका मतलब यह है कि आप कविता को आम जनता तक उतारने के लिए यह सब जरूरी समझते हैं ? पर आम जनता भी कुछ कम गडबडझाले वाला शब्द नही है।

आम जनता से मेरा मतलब बौद्धिक स्तर पर दर्जा चार तक पढ़ी हुई जनता से है। आर्थिक स्तर पर जो दोनो जून की रोटी खा लेती हो। उसके लिए किया गया कवि कर्म।

☐ यानी कि फार्म की चौकसी भी जरूरी है ?

हाँ। फार्म को मैं इनकार नही करता। वह एक जरूरी चीज है। स्वय रचनाकार होने के नाते यह स्वीकार करना होगा कि तीव्र आवेग कभी-कभी मुक्त छद में जब आएगा तो हम उसे रोकेंगे नही। किन्तु छन्द, लय आदि बहुत जरूरी है। और उसे पकडने के लिए हमे जनता के बीच जाना पडेगा। मुहावरे, बिम्ब सब लेने होगे वहाँ से।

पर इसका मतलब यह नही कि मैं प्राणहीन तुकबन्दी का समर्थन कर रहा हूँ। ऐसे नमूने हिन्दी कविता म बहुत हैं और ये उदाहरण मेरे लिए काफी यन्त्रणादायक होते हैं। तब भी मैं इस निर्णय पर हूँ *कि फार्म की उपेक्षा नही होनी चाहिए। यह बात मेरी* समझ मे शुरू से ही आ गई थी। सस्कृत परम्परा म कालिदास ने पचासो छदो का इस्तेमाल किया।' ''' मान लो आज मैं अधा हो जाऊँ तो पाठ्य काव्य का मुक्त छद मेरा साथ न देगा। मेरे लिए उस वक्त एकतारा लेकर भजन रचना और गाना ज्यादा सुलभ होगा। सतो ने एकतारा क्यो लिया ? उनको लगा कि यह छद को और मजबूत करेगा। अगर हिप्पी कवि गिटार पर अपनी कविता चौराहे पर गा सकता है तो मैं क्यो नही ? दिनकर, माखनलाल, सुभद्राकुमारी, नवीन क्यो जनता तक पहुँच सके ? उनका छद ही उन्हे वहाँ तक पहुँचा सका। *मुक्त छन्द की कविता भी अगर नाटकीय* बातचीत से सम्पन्न हो तो लोगो की जुबान पर चढ़ जायेगी। सुरेश उपाध्याय जैसे कवि क्यो मटो मच पर सुने जाते हैं। *उसका कारण उनका नाटकीय कथन है।* उन्ह चाहे तो कथा-कथक कह सकते है। महाराष्ट्र में यह शैली खूब प्रचलित है। हिन्दी मे लोग इसे अछूत माने बैठे है। एक तो वाचन (पाठ्य) के द्वारा ज्ञानार्जन की सुविधा जब से हुई तभी से रचना की मौलिकता, ताजगी और प्रखरता खत्म हो गई। मौलिकता किताबी ज्ञान मे निहित नहीं रहती। वह कवि के व्यापक जीवन अनुभव और उससे पैदा होने

वाले साहस के भीतर से जन्म लेती है।''''''विजेन्द्र लम्बी कविताये लिखते है। अगर वे नाटक लिखते तो जनता का ज्यादा कल्याण होता। सुमन का नाटकीय लहजा श्रोताओ को बाँधकर रखता है। इसलिए कविता मे श्रोतृत्व होना उसकी जनव्याप्ति के लए जरूरी है। मलयज जैसे कवि कविता पाठ के वक्त बोर क्यो करते है। उनका वाचन श्रोता को पकड नही पाता। तुलसीदास जैसे बडे कवि ने जब रामलीला शुरू करवाई होगी तो सोचिए क्या प्लानिग रही होगी। कविता के अनेक-अनेक स्तरो को अनेक-अनेक ढगो से खोलने की जुगत थी यह। इसी योजना के तहत नवाह्न परायण का विधान आविष्कृत हुआ। उर्दू म मुशायरा होता है। बडे से बडा और गभीर से गभीर शायर वहाँ जाकर अपने को उपकृत करता है। सस्कृत नाटको मे प्राकृत का प्रयोग क्यो किया गया—दूहा क्या लिखे गये, जिससे आम जनता भी अपने लिए उनमे कुछ पा सके। प्राकृत उन दिनो जनभाषा थी।

☐ क्या आप यह नही मानते कि कविता मे कथ्य ही सबसे महत्त्वपूर्ण है, और आप खुद इसके चरम उदाहरण है ?

मैं मानता हूँ कि कविता मे कथन महत्त्वपूर्ण है पर कथन-पद्धति कम महत्त्वपूर्ण नही। इसीलिए हमने ज्यादातर छन्द ही चुना। बरवै छन्द म भस्माकुर लिखा जो विछोह या शृगार का प्यारा छद है। रहीम, तुलसी ने लिखा था इसमे। इधर खडी बोली म साकेत म एक जगह छ पक्तियाँ बरवै की आधी हैं। मैंने बरवै को लेकर उसे तोडा—अभिन्नाक्षर बना दिया। जहाँ वर्णनात्मक अश है वहाँ भाषा सस्कृत-निष्ठ हो गई है। किन्तु बातचीत के प्रसगा को एकदम ठेठ चलती भाषा म लिखा है। चूंकि कथाश बहुत सूक्ष्म था इसलिए उसे फुलाना भी था। मैंने वह कार्य यहाँ किया। पर हमारे समकालीन बूढे कवि लोग इस मायने मे काफी दयनीय हैं। उन्ह भय है कि छन्द *की ओर जायेंगे ता नये छोकरे क्या कहेगे।*

(बाबा की ठेंपी खुल गई थी और वे बातों मे डूब गये थे)

कलकत्ता के रिजर्व बैंक म जो सरकाऊ सीढ़ियाँ लगी हुई हैं, पास ही कुछ बच्चे बैठे रहते हैं। जब कोई बूढा आदमी आता है तो उसे सहारा देकर ऊपरी मजिल तक छोड आते हैं और बदले म कुछ सिक्के घोट लते हैं। मैने उन्हे देखा और उन पर लिखा—

विद्युत अभिमन्त्रित हैं सरकाऊ सीढियाँ
चढ नही पा रही, उतर नही पा रही
पुरानी पीढियाँ

मिर्जापुर म जब मैंने यह कविता मुनाई तो दो-तीन लोग उठ खडे हुए। कहने लगे—आप सरासर गप्प मार रहे हैं। हमारा हिन्दी क्षेत्र इतना कूपमण्डूक है। साहित्यकार हो या पत्रकार हमारे ये सारे लोग अल्प सूचित हैं। सरकार अगर उनकी आर्थिक सहायता नही कर सकती तो यही कर दे कि साल मे एकाध बार उन्हे देश-दर्शन ही करवा दे। कम स कम उनकी कूपमण्डूकता तो खत्म होगी। दुर्भाग्य तो यह है कि हिन्दी क्षत्र के पास कोई समुद्र का किनारा नही है।

☐ बम्बई तो है। वहाँ तो कुछेक हिन्दी लेखक रहते भी हैं ?

बम्बई मे भी हमारी मानसिकता बम्बइया हो जाती है। हम अपने प्रति एलर्ट नहीं रह पाते। महीनों चाँद ही नही देखते। जब महीने मे एक दिन खीर खाई जा सकती है तो चाँद क्यो नही जाकर देखा जा सकता। पर हमारी मडलियो को इसकी फुर्सत नही है। सूर पचशती पर लाखों खर्च करेंगे, पर हिन्दी की आम जनता पर, उसके ज्ञानवर्धन के लिए कुछ भी नही करेंगे। मजा तो देखो। समुद्र के किनारे होने पर भी बगला और मराठी कविता भी इस मानसिकता से मुक्त नही है। सभी शख धर्मी हैं। हाँ ! बगला मे ईश्वर गुप्त, एण्टनी फिरगी जैसे कवि हुए जो आम भाषाओ मे चार-चार पक्तियो का 'छाडा' लिखते थे। पर यह तभी सम्भव है जबकि आपके मन मे अपनी जनता के प्रति प्रेम और आदर हो। मैं तो अपने बगाली युवक मित्रो से कहता हूँ—'आमा के ग्रामेर अचले निये चलो।' पर वे खुद भी कहाँ जाते हैं।

बौद्धिकता की चाप कम करने के लिए जरूरी है कि हम ऐसा बार-बार करते रहे। किन्तु बगाली कवि भी इससे बचता है। विष्णु दे बंगला के शमशेर हैं। बुद्धदेव बसु भी बौद्धिकता से ग्रस्त हैं। छद्म आधुनिकता को छाँटने का यही तरीका है कि हम छद की ओर लौटें। दुर्भाग्य है कि इप्टा (Ipta) टूट गया। अपने यहाँ के अच्छे-अच्छे फार्म थे, वे हमसे छूट गए। छन्द मे अपने को प्रकट करने में हमारी आधुनिकता को शर्म आती है। कला परिषदो वाले अगर छन्दवाली कविताओ का पाठ करायें तो क्या उनकी जात चली जायेगी। हाँ, यह खतरा तो है कि उनकी अपनी पहचान जरूर खत्म हो जायगी।

☐ आधुनिक हिन्दी कवियो मे वे कौन लोग हैं जिन्हे जनता अपना कवि कहकर मानेगी ?

भारतेन्दु के बाद हिन्दी कविता को जनता के बीच खडी करने की कोशिश मैंने की। अगले पचास बरसो बाद जब हिन्दी कविता की जीवतता के प्रमाण खोजे जायेंगे तो हमारी वे पक्तियाँ उद्धृत की जायेंगी जो चलताऊ ढग से आन्दोलनो को लक्ष्य करके लिखी गई हैं। तुलसीदास से मैंने बराबर फार्म के प्रति जागरूकता सीखी है। और यह जैसे-तैसे नही आ जाता। कवि को अपनी सनक के बल पर कविता के साथ सलूक नही करना चाहिए। मै तो हमेशा फार्म तलाशता रहता हूँ। पश्चिमी यू० पी० मे जब रहता हूँ तो नौटकी जरूर देखता हूँ। नौटकी मे अवधी, उर्दू और खडी बोली सब मिल-जुलकर प्रभाव पैदा करते हैं। इसलिए मेरी कविता मे भी फार्म के धरातल पर आपको वैविध्य मिलेगा। मैं दूसरी ध्वनियो की ओर भी ध्यान लगाए रहता हूँ—चाहे वे बगला की ही क्यो न हों ! काव्य और सगीत अगर एक दूसरे की सहायता करें—आम जनता तक पहुँचने मे—तो हर्ज क्या है। यह काम कवि का है कि वह अपने को सम्प्रेष्य बनाये। यह कैसे होगा—इस सोचना हमारी जिम्मेदारी है। कवि के लिए हर समय ऐसी चुनौतियाँ मिलती ही रहती हैं। फ्रास मे लुई अरागो, पाल एल्युआर जैसे समृद्ध लेखक उस समय नाम बदलकर जन आन्दोलनो म कूद पडे जब हिटलर ने फ्राँस को दखल कर लिया। उस समय ये बुद्धिजीवी जनता के बीच सारी आधुनिकता त्यागकर ७०

बोली में लिखने लग गये। और जन-जीवन की इस लय को पकड़ना आसान नहीं है। इसके लिए नदियों, तालाबों, पगडंडियों, बगीचों तक आना-जाना पड़ता है। बेतवा किनारे जाकर सिर्फ टहल आने से काम नहीं बनेगा। मोजा उतार कर पाँवों को लहरों में डुबाना होगा। फिर एकाध दिन तक किसी गीत की पंक्ति गुनगुनानी पड़ेगी। तब कहीं लय हाथ लग पाती है। थीम तो खैर बहुत बाद में आ पाती है। पर जो चीज मँहगी है, उसे भी खरीदना पड़ता है, अगर उसकी जरूरत है तो। 'तीन दिन तीन रात' कविता लिखने के लिए मुझे तीन दिन उस माहौल में रहना पड़ा। लेकिन जब आपने तय कर लिया लोग समझें, घण्टा न समझें, तब यह रूढ़ाग्रह बहुत दयनीय होता है। ऐसी कठिन कविताओं को सुनते हुए हमारे श्रोताओं का वही हाल होता है, जो पक्के संगीत वाले श्रोता का होता है।

□ भाषा के बारे में आपने कुछ नहीं कहा ?

भाषा की तराश या बुनावट के लिए इलाहाबाद की भाषा को हम प्रमाण मानते हैं। घुमतू जीवन रहा तो जगह-जगह के मुहावरे भी ले लिये हैं। जो मजदूरों को सुनानी है, उसमें शब्दों की कसावट को ढीला कर दिया है। इधर बीस-पच्चीस साल की रचनाओं में कसावट ज्यादा आई है। प्रयोग भी हमने खूब साहसिक किये हैं। परंपरागत और आधुनिक दोनों डरते हैं। संस्कृत और अंग्रेजी दोनों ही भाषाओं के जानकार हिन्दी लेखक का आत्मविश्वास खत्म हो गया है। पर मैं तो धड़ल्ले से प्रयोग करता हूँ और यह मानता हूँ कि हर भाषा का जादू अपना होता है। यह कर न पाता अगर *संस्कृत न पढ़ी होती। संस्कृत पढ़ना अच्छा ही रहा। काफी काम आयी। नहीं तो* 'प्राभातिक खुमारी' और 'साडम्बर आरती' जैसे प्रयोग हो ही नहीं पाते।

□ आपकी दृष्टि में सच्चा प्रगतिशील और सही आधुनिक कौन है ?

ये सब स्थितियाँ कार्य सापेक्ष हैं। एकाएक लाद देंगे आप सब पर यह मुमकिन नहीं। एक बार घर से निकलने पर हमने अपनी पत्नी से कहा—'सिंदूर पोंछ लो। तो वह रोने लगी। और दिन भर रोती रही। तब हमने उसे समझाया कि सिंदूर में रखा क्या है, जैसे राख वैसे सिन्दूर।" पर वह कहीं समझी। ग्रामकन्या टाइप युवतियों के माथे से आप इतनी जल्दी सिंदूर नहीं पुछवा सकते। इतनी आधुनिक वह नहीं हो पायेगी अभी। और न यह कहकर आप अपने को प्रगतिशील ही सिद्ध कर पायेंगे। संस्कार रूप में जो आयेगा, वही हमारे काम का होगा।

आधुनिकता और प्रगतिशीलता की असली पहचान हमारे सामाजिक संघर्षों से होगी। कोई चुटिया रखता है या कोई सिन्दूर लगाती है, इससे निपटारा नहीं होगा। बीच में हमारा कामरेडों का साथ रहने वाला पीरियड भी गुजरा है, उससे हमारा सन्तुलन बिगड़ने बिगड़ने को हो गया था। चन्दन लगाने वाला भी हमारे लिए प्रगतिशील हो सकता है, अगर वह संघर्ष का समर्थन करता है। और कोई कामरेड घर का मालिक हो और छोटे भाई या बेटे के लिए दहेज माँगे तो हम वहाँ उसके नम्बर काट लेंगे और उस पण्डित को नम्बर ज्यादा देंगे जो चन्दन चुटिया के बावजूद दहेज नहीं माँग रहा है।